हृदयोपनिषद्

THE CARDIORESPIRATORY SYSTEM AS DESCRIBED IN VEDIC LITERATURE

सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव

हृदयोपनिषद्

THE CARDIORESPIRATORY SYSTEM AS DESCRIBED IN VEDIC LITERATURE

(वैदिक ऋषियों द्वारा हृद-फुफ्फुस अङ्ग सम्बन्धी साक्षात्कार किये गये ज्ञान की समीक्षा)

लेखक एवं सम्पादक
सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव

प्राची शोध संस्थान
चन्द्र भवन, दीवान बाजार, नयी कालोनी, गोरखपुर
(उ० प्र०) भारत

हमारे देश के वैदिक साहित्य में स्वस्थ्य और दीर्घायु रहने के लिए सूत्र रूप में अत्यन्त उपयोगी ज्ञान उपलब्ध है। श्री सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव ने अपने 'हृदयोपनिषद्' नामक पुस्तक में हृदय और फेफड़ों की रचना तथा क्रिया सम्बन्धी ज्ञान का संकलन कर बहुत ही सरल भाषा में विवेचन किया है। मैंने इस पुस्तक को स्वयं पढ़कर यह अनुभव किया कि इस प्रकार के साहित्य के प्रकाशन से जन साधारण का बड़ा हित होगा। साथ ही साथ जन मानस में राष्ट्रीय गौरव की चेतना जागृत होगी। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक जन स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं के निराकरण में अत्यधिक उपयोगी सिद्ध होगी।

दिनांक 29 मार्च 1979

पी० एल० शुक्ला
एम. बी. बी. एस., एम. एस.
अधिष्ठाता एवं प्रधानाचार्य
बी. आर. डी. मेडिकल कालेज, गोरखपुर
(उ० प्र०) भारत

ॉ० ध० न० केसरवानी
म० डी० (आनर्स) तथा पी-एच० डी० (म्यूनिख)
म० डी०, एम० एस० (रोम)
० सर्जरी (बर्लिन) जेड० टी० (विएना)

पूर्व प्राध्यापक, मैडिकल फैकल्टी, म्यूनिख विश्वविद्यालय और सी० एम०
० बवेरिया, जर्मनी ; भूतपूर्व चिकित्साध्यक्ष–राजकीय सेनेटोरियम,
वाली (नैनीताल) ; डीन–मेडिकल फैकल्टी (ए० एम०) तथा एग्जीक्यूटीव
ौंसिलर, लखनऊ युनिव०; डीन–गुजरात युनिव०, अहमदाबाद ।

श्री सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव ने हृदय पर शोध कार्य किया है एवं समस्त वाङ्मय से अभिधा और लक्षणों द्वारा निर्देशित हृदय के प्रतीकात्मक शब्दों का संकलन किया है। जिस प्रकार परमेश्वर का अपना निजी नाम ॐ हैं, परन्तु गुणात्मक शताधिक नाम हैं; उसी प्रकार हृदय के भिन्न-भिन्न नाम हैं।

आज जगविदित है कि हार्वे से बहुत पहिले हमारे ऋषियों ने हृदय में रक्त संचार तथा अवयव का गतिशीलता का साक्षात्कार किया था।

लेखक का श्रम श्लाघनीय है। हृदय के सब संदर्भ एकत्र कर प्रस्तुत कर दिये हैं, जो सर्वदा उपादेय रहेंगे।

धर्मानन्द केसरवानी
10/13, प्रवीण मार्ग
दिल्ली-7

दिनांक 15.11.78.

श्री सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव लिखित 'हृदयोपनिषद्' नामक लघु पुस्तक देखने को मिली। प्रस्तुत पुस्तक में वैदिक-साहित्य से हृदय के विषय में उपलब्ध सूत्रों का उत्तम संग्रह है। आयुर्वेदिक तथा एलोपैथिक दृष्टिकोंणों का समन्वय करने के साथ, आपेक्षित रेखा चित्र देकर सम्बद्ध विषय को यहाँ सुबोध शैली में प्रस्तुत किया गया है। पुस्तक गवेषणात्मक है तथा मौलिक है। अनुसन्धान कर्ताओं के लिए उपादेय है तथा हृदय के वर्णन के लिए आयुर्वेदिक साहित्य संकलन में उपादेय प्रयत्न का प्रतीक है, प्रोत्साहन योग्य है। स्नातकोत्तर शिक्षा में इसका उपयोग उचित ही होगा।

वैद्य हरिदत्त शास्त्री
भूतपूर्व डाइरेक्टर, आयुर्वेद
महाराष्ट्र-सरकार
एवं
साम्प्रतीन डाइरेक्टर श्री मूल चन्द खैराती राम हॉस्पिटल
एवं
आयुर्वेदिक अन्वेषणालय
लाजपत नगर-3
नई दिल्ली
भारत

दिनांक 10-12-78.

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक लेखक द्वारा प्राचीन इतिहास पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय के अन्तर्गत Medical Sciences in Ancient India पर तैयार किये गये शोध प्रबन्ध का एक भाग है। इसके कतिपय अध्याय विगत वर्षों में विभिन्न पत्रिकाओं एवं Journals में प्रकाशित हुये हैं। अतः लेखक पुर्नमुद्रण की आज्ञा हेतु सम्पादक, आयुर्वेद महासम्मेलन पत्रिका नई-दिल्ली; सम्पादक, धान्वन्तरीयम, गोरखपुर; सम्पादक, Studies in History of Medicine* नई दिल्ली का हृदय से आभारी है।

तथ्यों को बोधगम्य बनाने के हेतु इस पुस्तक में बाइस रेखा चित्रों का समावेश किया गया है तथा सामान्य पाठकों के रुचि के अनुरुप 'हृदय में आत्मा के भौतिक अस्तित्व की खोज' तथा 'हृद-फुपफुस कार्यकी एवं मण्डलवत द्विअक्षीय रक्त सञ्चरण' पर अध्याय सम्मिलित किये गये हैं। पुस्तक के अन्त में 'हृदयोपनिषद्' शीर्षक के अन्तर्गत वैदिक वाङ्मय में विखरित हृद–फुफ्फुस अङ्ग से सम्बन्धित एक सौ पाँच मन्त्रो का भी संकलन सुविधाजनक क्रमांक में किया गया है। आशा है यह पुस्तक मेडिकल स्कूलों में चिकित्सा इतिहास का तुलनात्मक अध्ययन करने वाले छात्रों एवं आयुर्वेद के छात्रों के लिये विशेष उपयोगी होगी।

लेखक—सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव

---

* Sept. 1978, Structure of Internal Heart as Described in Vedic literature.

दो शब्द

वैदिक वाङ्मय मूलतः धार्मिक है तथापि उसमें अनेक ऐसे तथ्यों का समावेश है जिनसे समकालिक ज्ञान-विज्ञान की अवस्था का सम्यक् बोध उपलब्ध हो सकता है। श्री सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव ने वैदिक साहित्य के अनुशीलन से शरीर-विज्ञान सम्बन्धी प्रचुर सामग्री संकलित की है जिसका हृद-फुस्फुस सम्बन्धी अंश प्रस्तुत पुस्तक में प्रकाशित किया जा रहा है।

यह हर्ष का विषय है कि श्री श्रीवास्तव का मौलिक शोध हिन्दी में प्रकाशित हो रहा है। इस पुस्तक में वैदिक शब्दों के पर्याय पाश्चात्य शरीर विज्ञान की पदावली में भी प्रस्तुत होने के कारण उसका महत्त्व द्विगुणित हो गया है। आशा है, इतिहास एवं आयुर्विज्ञान के क्षेत्र में इस कृति का पर्याप्त स्वागत होगा।

दिनांक 27.10.78

शैलनाथ चतुर्वेदी
पी-एच० डी०
प्राचीन इतिहास पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग,
गोरखपुर विश्वविद्यालय,
गोरखपुर

INTRODUCTION

The present work, coined as '*Hṛdayopaniṣd*' by its author Shri Suresh Chandra Shrivastva, has long been a desideratum in the field of Vedic Anatomy and Physiology. One should not confuse with its old-styled nomenclature placing it amongst 108 so-called *upaniṣads*. The author has, very purposely and aptly, chosen its name dealing with scientific expositions and annotations of the esoteric hymns of the *Saṃhitās*, *Brāhmaṇas*, *Āraṇyakās* and *Upniṣads*.

Anatomy and physiology are considered to be the backbone of Medical Science and without its entire knowledge the structure and functions of the body cannot be systematically understood. Anatomy is the science of form and structure of organised body and is acquired practically by separation of the parts of a body, so as to show their distinct formation and their relation to each other. It is, therefore, a branch of Biology which consists of two great divisions—the anatomy of animals styled as Zootomy, and that of plants, Phytotomy. In the west, we find that *Alemacon*, a disciple of *Pythogoras*, and *Democritus*, are said to have dissected animals with a view of obtaining comparative knowledge of human anatomy. *Hippocrates*, (460 BC), though the father of the Western Medicine, is less justly regarded as the father of anatomy, as his views of the structure of the human body are very superficial and incorrect. *Aristotle* (384 BC), the foundor of science in Europe, seems to have based his views of comparative

anatomy on the dissection of animals, but does not appear to have dissected men. *Erasistratus* (250 BC) was the first to dissect human bodies of criminals. *Herophilus* also is said to have dissected living subjects. *Celsus* (63 BC) in his *De Medicine* wrote much on anatomy. *Galen* (130—200 AD) had acquired an anatomical knowledge through the human skeleton and it is interesting to note that the human dissection was not allowed during his period. His description of anatomy of bones and muscles is excellent. His contribution in the field of anatomy is remarkable which is apparently evident by his glorious work entitled *De Anatomie is Administratieuibus Libri*, classified into 9 volumes. He, like *Susruta*, has laid great emphasis on the study of anatomy.

After Galen for a very long period, anatomy could not get enough attention and its development stopped. In 1315, *Mondino* of *Bologna* first made anatomical demonstration publicly upon human body and it was *Andreas Vesalius* (1527—1543) who started dissection and lateron, anatomy became a fascinating subject for the scientists and they started taking interest in the development of anatomy.

In India, anatomical studies constituted to be a very favourite subject with the *Atharvāngiras*, the group of people associated with the *Ṛgvedic* and *Atharvavedic* literature. Inspired by the hymns of these compendia, they proceeded to the study of human and other living bodies. Like other subjects, anatomy also became an essential part of the study of the ancient Indians around the sacred fire. Around the *yajña*, which was for these ancient lovers of knowledge the open air observation and laboratories they developed this

branch of discipline. During the Vedic age, dissections were done on the dead bodies before cremation. Sometimes after dissection, the dead parts of the body were submitted to the flames for consumption. In many cases, dissections were done on such bodies of children as were not entitled for cremation rites in the proper form. This led to the counting of bones in a body. Osteology, dealt by *Charaka* and *Suśruta*, shows that the bones found in children were counted and it is scientifically proved by modren studies.

The *Ṛgveda* (2500 BC) speaks of various anatomical terms and *Yajurveda* presents a long list of parts of the human body which are sufficient to exhibit the depth of knowledge in anatomy of the vedic scientisits. In *Atharvaveda* (1.16.3), the distinction between *dhamanī* (artery) and *śirā* or *hirā* (vein) was quite clear. The *Kāṇḍa* XX *Sūkta* 96 gives the details of anatomy dealing with various viscera and skeleton. The term *Hṛdaya* referred to in *Sathapatha Brāhmaṇa* having the three letters, signifies reception (*harate*), transmission (*dadāte*) and pulsation (*ete.*) which historically proves the knowledge of blood circulation by Indians in 1200 BC, a long time before *Harvey* (16th Cent. A. D.)

The Indians knew how to preserve a dead body and it is shown in the *Rāmāyaṇa* of *Vālmīka,* composed in C. 600 B. C. that the cadaver of *Daśaratha* was kept in an oil-tub till *Bharata's* arrival in *Ayodhyā.* They also knew the method of dissection. Care was taken to dissect different parts of the body neatly and elegantly. It was apparent from the following passage of *Atharvaveda* (IX.5.4) :

'Cut up the skin with the grey knife (dissector ?) dividing joint from joint, and mingle nothing, do him no

injury, limb by limb arrange him and send him up to the third cope of heaven.'

Following Vedic tradition, *Suśruta* (1000 B. C.) perfomed the dissection of dead body; he did not apply the knife but used the brush made of *Muñja* grass for the purpose. We are proud enough to say that *Suśruta* is the first anatomist and surgeon who perfomed dissection in India, while in the west, it was started nearly two thousand years after *Suśruta*, by *Vasalius*. But medical historians have ignored the contribution of *Suśruta* in this field.

Charaka says that the knowledge of anatomy is essential, as it gives an insight for the treatment and hence, expert physicians highly appreciate the knowledge of anatomy (IV. 6.3). *Suśruta* further adds that anyone who wishes to acquire a thorough knowledge of anatomy must be prepared to dissect a dead body and carefully observe and examine all its different parts (III.5.49). Practice of dissection was continued upto the period of writing of the Buddhist canons. We hear of dissection in the *Aṅguttara Nikāya* (VII.7.9) of *Sutta Pitaka* Thus it will be unwise to blame Buddhism for the downfall of anatomy and surgery in India.

After *Galen*, the west could not contribute in the field of anatomy till the time of *Vesalius*, while the *Hīnayāna* school of Buddhism in Ceylone gave a remarkable contribution in this field. *Budhaghoṣa* (380—440); during the time of Kumargupta, went to ceylone and while writing commentaries (*aṭṭhakathā*) on the *Tripitakās*, composed a work on meditation by the name of *Viśuddhi Magga* (path of Purification).

Written in Pali language, the book contains 23 chapters and among them, the 6th, 8th and 11th chapters deal with the various anatomical concepts, and among them, some differ from that of the Ayurvedic compendia. The Buddhist *vāgbhatta* wrote his *Āṣṭaṅgahṛdaya* in the 6th cent. A. D. but did not mention the development of anatomy described earlier in *Viśuddhimagga* of *Buddhaghoṣa*. There were quarrels between Hindus and Buddhists and the Brāhmans closed their eyes to the outer world and gave up the studies of the work other than *Vedās* and it led to total distortion of knowledge and our ancient Medical Science became static.

Mr. Shrivastava has putforth a number of synonymous terms described in vedic *saṁhitas* and *upaniṣads* and his scholarly and scientific expositions with illuastrtions of the '*hamsas*' (swan) and '*puṅḍarika*' (lotus) are laudable. He has corroborated his thesis by depicting an angiocardiogram in it. The eight openings of heart, pointed out in occult style in *upaniṣad* have been identified with Pulmonary and Aortic, Arotas; Superior and Inferior, venacavas; and four pulmonary veins. The stucture of internal heart is apparently illustrated and elaborated with the vedic terms and he has endeavoured to identify all of them from modern point of view. Coronary circulation has been compared with that of the leaf of Pipal (*ficus religiosa*) where it becomes an identical. The terms, described as *lohita, nīla* and *aruṇa* for artery, vein and other bile duct, have been skilfully elucidated. Mr. Shrivastava has gone so deep to explore the site of consciousness even and his hypothesis is worth considering. After illustrating the Cardiovascular System, the author has not negletcd the exposition of Respiratory system as it is juxtaposed with former. He

has almost put all the terms starting from nostrii upto lobes of lungs. His study testifies that the knowledge of Vedic Aryans regarding the Respiratory organs was extrme. Mr. Shrivastava's an exposition of *kloman* as lobes of lungs is commendable though I do not share with this view. He has exhibited lung-lobes of cow, pig, rabbit and sheep in order to prove his thought as the very were sacrificed in Vedic period and the Aryans might have gathered the knowledge of anatomy of lungs through these.

I am sanguine that Shri Suresh Chandra Shrivastava by virtue of his scientific background, will explore the hoary Vedic literature and contribute a lot to corroborate the extensive knowledge of Anatomy and Physiology of our Vedic ancestors. I congratulate him on this spectacular achievement and wish further contribution in this long-neglected field.

Jyotir Mitra
Reader
Deptt. of Basic Principles, and
Secretary
Society of History of Medicine.
India

2.10.1978
Institute of Medical Sciences,
Banaras Hindu University,
Varanasi.

संकेताक्षर

अ० वे०	अथर्ववेद
ऋ० वे०	ऋग्वेद
सा० वे०	सामवेद
वाज० सं०	वाजसनेय संहिता
क० उप०	कठोपनिषद्
छान्दो० उप०	छान्दोग्योपनिषद्
बृ० उप०	बृहदारण्यकोपनिषद्
श्वेता० उप०	श्वेताश्वतरोपनिषद्
कौषी० उप०	कौषीतक्योपनिपद्
प्र० उप०	प्रश्नोपनिषद्
तैत्ति० उप०	तैत्तिरीयोपनिषद्
ऐत० उप०	ऐतरेयोपनिषद्
जा० उप०	जाबालदर्शनोपनिषद्
यो० उप०	योगचूड़ामण्युपनिषद्
मुण्ड० उप०	मुण्डकोपनिषद्
माण्डू० उप०	माण्डूक्योपनिषद्
सु० उप०	सुबालोपनिषद्
सौ० उप०	सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद्
के० उप०	केनोपनिषद्
ई० उप०	ईशावास्योपनिषद्
हं० उप०	हंसोपनिषद्

ना० उप०	नादबिन्दूपनिषद्
मुद्० उप०	मुद्गलोपनिषद्
शत० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
ता० ब्रा०	ताण्डय ब्राह्मण
ऐत० ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण
कौ० ब्रा०	कौषीतकी ब्राह्मण
गो० ब्रा०	गोपथ ब्राह्मण
पं० ब्रा०	पञ्चविंश ब्राह्मण
चरक०	चरक संहिता
सुश्रुत०	सुश्रुत संहिता
काश्यप	काश्यप संहिता
शा०	शारीर स्थानम्
सू०	सूत्र स्थानम्
नि०	निदान स्थानम्
चि०	चिकित्सा स्थानम्
क०	कल्प स्थानम्
वि०	विमान स्थानम्
इ०	इन्द्रिय स्थानम्
सि०	सिद्धि स्थानम्
उ०	उत्तर स्थानम्

हृदय : सामान्य-रचना

(HEART : GENERAL—FEATURE)

वैदिक साहित्य के विविध सन्दर्भों में हृदय का वर्णन मिलता है[1]। ऋग्वेद में हृद का उल्लेख अनेक बार हुआ है। यहाँ एक पूरे सूक्त में शरीर के विभिन्न अङ्गों और उनके रोगों के साथ-साथ हृदय रोग का विवरण भी प्राप्त होता है[2]। अथर्ववेद[3] और उपनिषदों[4] में हृदय को 'पुण्डरीक' (The blossom of Nelumbo-nucifera of NYMPHACEAE family) शब्द द्वारा व्यक्त किया गया है[5]। अथर्ववेद की एक ऋचा में 'देवकोश'[6] तथा दूसरी ऋचा में 'कोश'[7] शब्द हृदय के लिये प्रयुक्त

1–ऋ० वे०, 1.24.12;1.60.3; 1.91.93; 3.39.1; 4.58.11; 6.53.5–7; 8.22.3; 10.34.7; 9.87.4.; अ० वे०, 9.8.14; 10.2.26; 11.8.43; वाज० सं०, 17.93; 19.85; 25.8; 39.8; क० उप०, 1.3.1; 2.1.1; 2.1.13; श्वेता० उप०, 3.14; 5.8; मुण्ड० उप०, 2.2; 6.8; छान्दो० उप०, 3.13.8; 8.1.1–3; 8.3.3; 8.6.1—6; बृह० उप०, 4.2.2–3; 5.9.1; प्र० उप०, 3.6.7; तैत्ति० उप०, 1.6.1-2; एत० उप०, 1.3.11–14; कौषी० उप०, 4.19; हं० उप० 15.21; ना० उप० 1.5.

2–आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोर्हृदयादधि।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां यक्नः प्लाशिभ्यो वि वृहामि ते।
ऋ० वे०, 10.163.3.

3–अ० वे०, 10.8.43.

4–छान्दो० उप०, 8.1.1; 1.6.6, 7.

5–सुश्रुत शा०, 4.31.

6–अ० वे०, 10.2.27.

7–अ० वे०, 10.7.10.

हुये हैं। गुह्य[8] शरीरस्थस्य देहिन:[9] वामभम्,[10] प्रजापति,[11] पुरुष,[12] ब्रह्म,[13] मनोमय[14], लोक[15], रवि[16], विश्व[17], हंस,[18] श्येन,[19] पक्षी,[20] (तु० ऋ० वे०, 1.164.20; श्वेता० उप०, 4.6 जो कि सम्पूर्ण हृद-फुपफुसीय अंग को एक पक्षी शरीर 'सुपर्ण' द्वारा इंगित करते हैं), गरुण.[21] भूमि,[22] अग्नि,[23] पुरुषय,[24]

8-ऋ० वे०, 1.67.2; वाज० सं०, 32.8; क० उप०, 1.3.1; मुण्ड० उप०, 2.2.1; तु० चरक शा०, 1.73, 78.

9-क० उप०, 2.2.4.

10-क० उप०, 2.2.4.

11-बृ० उप०, 5.3.1.

12-बृ० उप, 2.3.6; 2.5.18 तु० अ० वे० 10.2.11; सुश्रुत शा०, 7.3 जहाँ हृदय की रक्त वाहिनियों के ऊर्ध्व, ऊवाची और तिरश्ची होने का उल्लेख है।

13-बृ० उप०, 4.1.7.

14-छान्दो उप०, 4.14.1.

15-बृ० उप०, 3.9.14.

16-श्वेता० उप०, 5.5.8.

17-मुण्ड० उप०, 2.1.4.

18-श्वेता० उप०, 3.18; 6.15 तु० अ० वे०, 11.4.21.

19-बृ० उप०, 4.3.19; वाज० सं०, 19.86; ऋ० वे०, 9.7.5.

20-बृ० उप०, 2.5.18; तु० वाज० सं०, 10.9.25.

21-वाज० सं०, 17.72.

22-श्वेता० उप०, 3.14; तु० सा० वे० पू० प्र० 6 द० 5, म० 3.

23-श्वेता० उप०, 6.15; तु० बृ० उप०, 2.5.3.

24-बृ० उप० 2.5.18; वाज० सं० (18.52; 17.72) में एक ऐसे विशिष्ट अग्नि का उल्लेख है जो दो पंखो से युक्त है। यहाँ अग्निशब्द वास्तव में हृदय के लिये प्रयुक्त हुआ है। हंसोपनिषद् (14-15) तथा नाद विन्दू उप० (1-5) में भी ऐसा ही वर्णन प्राप्त होता है। यहाँ हृद-फुपफुसीय अङ्ग को

अश्वत्थ-वृक्ष[25], या वृक्ष[26] पुरोडाश[27] रहस्यपूर्ण शब्द हैं, जो हृदय के लिये प्रयुक्त प्रतीत होते हैं। सामवेद[28] और बृ० उप० में उल्लिखित 'विराट्' शब्द हृदय अथवा हृदय के ही किसी भाग विशेष को बोधित करते हैं[29]। सामवेद में वर्णन है कि विराट् पुरुष ने दश अंगुलियों द्वारा धरणी धारण किया है[30]। श्वेता० उप० में भी ऐसा ही एक प्रकरण है। श्वेता० उप० के उद्धृत मन्त्र में भूमि शब्द हृदय का ही द्योतक प्रतीत होता है[31]। चरक संहिता में भी हृदय से सम्बन्धित इस प्रकरण से मिलता-जुलता विवरण

ही हंस का रुपक मानागया है। ऐसा हंस शरीर रूपी भुवन के मध्य आजीवन गति करता रहता है। (श्वेता० उप० 3.18; 6.15; 4.6-7; छान्दो० उप० 8.3.3; ऋ० वे० 1.164.20; अ० वे० 10.9.25) यहाँ गतिशील हंस से वैदिक ऋषियों का तात्पर्य हृद फुफ्फुसीय अङ्गों के क्रमबद्ध संकुचन और प्रसारण से है। वक्ष-पञ्जर में स्थित दोनों फेफड़ों को यदि किसी लम्बी गर्दन वाले पक्षी के पंख का रूपक मान लें तो श्वास नलिका (Wind pipe) पक्षी के शिरोग्रिवा तथा उसके शरीर हृदय के सदृश्य ही दृष्टिगत होती है।

25–क० उप०, 2.3.1

26–श्वेता० उप०, 6.6.6.

27–वाज० सं०, 19.85; अ० वे०, 10.9.25.

28–सा० वे० पू० प्र० 6, द० 4, म० 7 तु० बृ० उपा०, 4.2.19 से करें जहाँ हृदय में 'शत' और 'दश' अश्वों के जीते जाने का उल्लेख है। तु० चरक सू०, 30.2.4.

29–बृ० उप०, 4.2.3.

30–सा० वे० पू० प्र० 6, द० 4, म० 7, तु० श्वेता० उप०, 3.14; चरक सू०, 2-7.

31–सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्।
स भूमि विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ श्वेता० उप०, 3.14.
आष्टाङ्ग हृदय सूत्र-1 में शरीर को प्रतीक रूप में भूमि कहा गया है।

चित्र—1 'हंस'

नव द्वारे पुरे देही, हंसो लेलायते बहिः ।
वशी सर्वस्य लोकस्य, स्थावरस्य चरस्य च ॥

श्वेता० उप०, 3.18;
तु० हं० उप० 14-15
ना० उप० 1–5
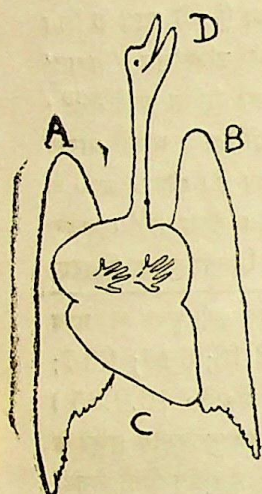
हृद फुफ्फुसीय अंग का रूपक 'हंस' तु० चित्र 2

1-कंठ (Larynx), 2–जत्रु (Thyroid cartilage), 3–अधर कंठ (Cricoid), 4–वाङ्नाड़ी (Wind pipe), 5–सह कंठिका (Bronchus), 6, 10–पुरीतत् (Pleura), 7–क्लोम (Lung lobules), 8–हृदय (Heart), 9–फुफ्फुस (Lung)

चित्र—2 हृद-फुफ्फुसीय-अंग
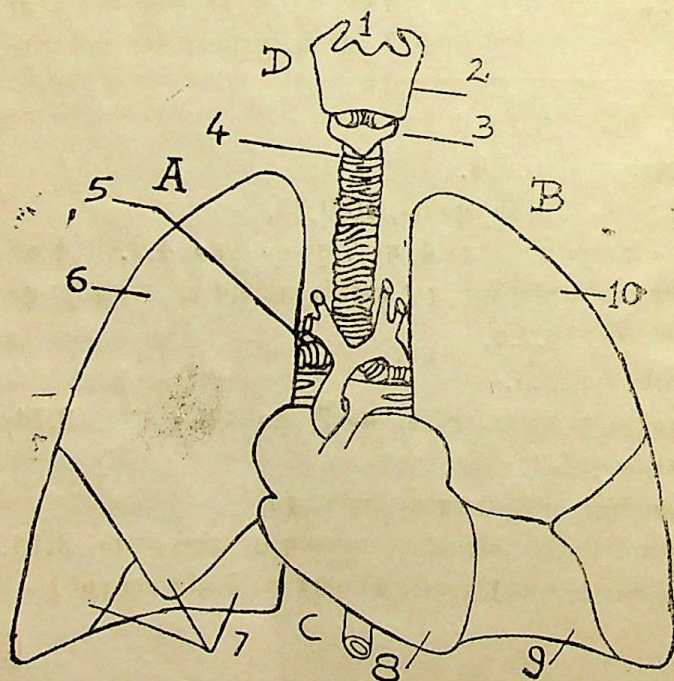
प्राप्त होता है[32]। अनेक वैदिक प्रकरणों में हृदय को रथ (Chariot) की भी संज्ञा दी गई है[33]। 'हिता'[34] और 'पुरीतत'[35] दो ऐसे शब्द है जो हृदय से ही सम्बन्धित प्रतीत होते हैं[36]। उपनिषदों में हृदय -ज्ञान को अति महत्व

32–अर्थे दशमहामूलाः समासक्ता महाफलाः।
महच्चार्थंश्च हृदयं पर्यायैरुच्यते बुधैः॥

यहाँ उल्लेख है कि हृदय में महामूल वाली 'दस' वाहिनियाँ लगी हैं। चरक सू०, 30.2, तु० अष्टांग हृदय-सूत्र–1.

जिस प्रकार अगर कर्णिका पर गोपानसियाँ टिकी रहती हैं:और छत को संभाले रखती है उसी प्रकार हृदय पर उपयुक्त भाव आश्रित हैं।
प्रतिष्ठार्थं हि भावनामेषां हृदयमिष्येते।
गोपात सीनामागार कर्णिकेवाथचिन्त कैः।

चरक सू०, 30.4.

हृदय रूपी मूल के कारण दस धमनियां महामूल कहलाती हैं—
तेनमूलेन महता महामूला मता दश।
ओजोवहा शरीरे ऽस्मिन् विधम्यन्ते समन्ततः॥

चरक सू०, 30.7.

33–मुण्ड० उप०, 2.2.6; बृ० उप०, 2.5.15; क० उप०, 1.3.3 : तु० चरक सू०, 30.7 तथा सुश्रुत शा०, 7.3,4;9.3.4 में दिये वर्णन से करें जहाँ 'रथ के नाभि' वाक्य का एक ही जैसा वर्णन किया गया है।

34–बृ० उप०, 4.2.3; 4.3.20.

35–वाज० सं०, 20.5.13; मैत्र० सं०, 3.11.8; कात्या० सं०, 38.4; तैत्ति० ब्रा०, 2.6.5; शत० ब्रा०, 8.5.4.6.

36–मैक० एवं कीथ—'शरीर' वैदिक इन्डेक्स

दिया गया है तथा इसे आत्म-ज्ञान की संज्ञा दी गई है[37]। कभी-कभी हृदय ज्ञान को 'ब्रह्मविद्या'[38](Science of life) और कभी 'मधुविद्या'[39](Extract of knowledge) कह कर उल्लिखित किया गया है।

अनेक वैदिक प्रकरणों से यह विदित होता है कि उस काल में भी हृदय–ज्ञान की शिक्षा के लिए पूर्ण संगठित और व्यवस्थित संस्थायें थीं[40]। इन संस्थाओं में हृदय ज्ञान सम्बन्धी शोध अनेक पीढ़ियों तक चलता रहा[41]। यह ज्ञान अति पवित्र और गुप्त था जो कि चुने गये सर्वोत्कृष्ट छात्रों या सुयोग्य बड़े पुत्र को ही दिया जाता था[42]। 'ॐ' शब्द भी वैदिक साहित्य में एक अति रहस्यपूर्ण संकेत चिन्ह है[43]। यह शब्द भी विस्तृत विवेचना करने पर हृदय ज्ञान का एक प्रतीकात्मक चिह्न[44] ही प्रतीत होता है। संभवतः हृदय के अध्ययन को इतना महत्व देने का कारण यह विश्वास था कि—'आत्मा का निवास हृदय में है'। शंकराचार्य ने उपनिषद् की व्याख्या में हृदय को आत्मा का लिंग (Symbol) और इन्द्रीय (An organ of action) माना है[45]।

37–तु० छान्दो० उप०, 7.1.3 तथा शिक्षा सम्बन्धी विषयों के सम्बन्ध में नारद सनत्कुमार वार्ता : छान्दो उप०, 7.1.2.

38–बृ० उप०, 4 ब्रा० 1 एवं 2 में दिये गये विषद् वर्णन

39–बृ० उप०, 2.5.14; छान्दो० उप०, 3.11.3.

40–बृ० उप०, 2.6.1—3; छान्दो० उप०, 8.15.1.

41–बृ० उप०, 2.6.1—3; छान्दो० उप०, 8.15.1.

42–छान्दो० उप०, 3.14.15.

43–छान्दो० उप०, 2.23.3; तु० मुण्ड० उप०, 2.2.4; 2.2.6; माण्डू० उप०, 8.

44–श्वेता० उप०, 3.14; सा~जै० पू० प्र० 6, द० 4, म० 7, तु० चरक सू०, 30.7; सुश्रुत शा०, 7.3.

45–शंकर व्याख्या छान्दो० उप०, 3.13.8 तथा शंकर व्याख्या बृ० उप०, 2.3.6.

हृद शब्द की उत्पत्ति संभवत: ह्लद[46] से हुई है। वैदिक साहित्य में 'ह्लद' शब्द जलाशय को बोधित करने के लिये प्रयुक्त हुआ है[47]। अथर्ववेद से ऐसी ही धारणा के संकेत मिलते हैं[48]। यहाँ हृदय को जलाशय के ही अर्थ में इंगित किया गया है[49]। इस तथ्य को हृद शब्द से ही मिलते जुलते दूसरे शब्द 'होद'[50] की विवेचना से भी स्वीकार किया जा सकता है। आज भी भारतीय गाँवों में होद का उपयोग घरों में जल संग्रहण तथा वितरण के ही लिये किया जाता है। हृदय वास्तव में शरीर में होद (Hod) के समरूप है जहाँ से रक्त का संग्रहण और वितरण होता है। बृ० उप० 5.3.1 में हृदय कार्यकी (Physiology) की ऐसी ही व्याख्या है।

यह भी उल्लेखनीय है कि हृद शब्द थोड़े ही ध्वनि विभेद के साथ लगभग सभी भारोपीय भाषाओं में एक समान मिलता है। तुलना कीजिए :

Old English (A. S.)	—	Hiertan, Heorte
Middle English	—	Hert, Herten
Old High German	—	Herza
Old Norse	—	Hjarta
Gothic	—	Hairto
Latin	—	Cor, Cordis,
Old Irish	—	Cride
Greek	—	Kardia
Aramaic	—	Sirt
Hittite	—	Karts
Original Teutonic	—	Herton
Dutch	—	Hart

46–ऋ० वे०, 1.52.7; 3.36.8; 3.45.3; 10.43.7; 10.71.7; 10.109.4; 10.142.8; अ० वे०, 4.15.4; 6.37.2; पं० ब्रा०, 25.10.8; शत० ब्रा०, 4.1.5.12; 11.5.5.8.

47–निरुक्त पृ० 27, 28, 417.

48–अ० वे०, 10.2.11.

49–अ० वे०, 10.2.11; ऋ० वे०, 4.58.11 सायण व्याख्या

50–हिन्दी विश्वकोश

एक दूसरे प्रकरण में हृद की समातुलना 'द्रोण' से की गई है।

(यद्रुम्दिः परिषिच्यसे ममृ'ज्यमान श्रायुभिः। द्रोणे सधस्थमश्नुषे ॥ सा० वे० उ० प्र०, 2.4) द्रोण शब्द वास्तव में टोटीदार लोटे का द्योतक है इस प्रकार के लोटे प्राचीन सुमेरिया और भारत में सामान्य रूप में मिलते हैं। हृदय की रचना से सम्बन्धित वैदिक कालीन ज्ञान का आभास वैदिक साहित्य में उल्लिखित अनेक प्रतीकात्मक शब्दों तथा उद्धरणों से होता है। ऋग्वेद के एक उद्धरण में, जहाँ हृदय को एक गुफा[51] के सदृश कहा गया है, वैदिक आर्यों के हृदय सम्बन्धी ज्ञान की प्रारंभिक रूपरेखा मिलती है। हृदय की रचना पर प्रकाश डालने वाला दूसरा तथ्य सामवेद के एक पाठ से प्राप्त होता है जहाँ हृदय को प्रतीकात्मक रूप में द्रोण[52] कहा गया है। किन्तु बाद के वैदिक ग्रन्थों में हृदय रचना सम्बन्धी ज्ञान पर्याप्त विकसित दृष्टिगत होता है[53]। वैदिक मनीषियों की ऐसी धारणा थी कि, आत्मा का वास हृदय में है[54]। संभवतः इस धारणा ने ही वैदिक मनीषियों को हृदय की आन्तरिक रचना के अध्ययन की ओर उन्मुख किया[55]।

51-ऋ० वे०, 1.67.2.

52-सा० वे०, उ० प्र०, 2.4.

53-दे० हृदय रचना हेतु बृ० उप०, 2.3.6; 4.2.2, 3; हृदय स्पन्दन हेतु-छान्दो० उप० 3.13.8; बृ० उप०, 4.3.35; 5.9.1; हृदय की नाड़ियों के हेतु बृ० उप०, 4.4.9; 4.3.20; 4.2.3; 2.1.19; क० उप० 2.3.16; प्र० उप०, 3.6; छान्दो उप०, 8.6.1.

54-छान्दो उप०, 8.3.3; 3.14.3; श्वेता० उप०, 3.13; क० उप०, 2.1.12; 2.1.13; 2.3.17; प्र० उप०, 3.6; मुण्ड० उप०, 2.2.7.

55-छान्दो० उप०, 8.1.1.

बृहदारण्यक उपनिषद में हृदय के रचना और कार्यकी समुचित विवेचना की गयी है[56]। एक सन्दर्भ में हृदय को आत्मा का लिंग (Symbol) और इन्द्रिय (An organ of action) कहा गया है[57]। अथर्ववेद में हृदय को एक सन्दर्भ में पुण्डरीक पुष्प के रूप में व्यक्त किया गया है[58]। अथर्ववेद में पुण्डरीक शब्द का प्रयोग हृदय की रचना को प्रकट करने के लिये किया गया है। यह तथ्य सुश्रुत के वर्णन से भी स्पष्ट होता है[59]। सुश्रुत ने हृदय की रचना का वर्णन करते हुये इसे नाल से लटकते हुये अधोमुख 'कमल कलिका के समान' बताया है जो सुप्त (Contract) और जागृत (Relex) होता रहता है[60]। जाग्रत अवस्था (Relaxed stage) में यह फूला हुआ या उद्विकसित तथा सुप्त अवस्था (Contracted stage) में सिकुड़ा या निमीलित रहता है[61]। इस वर्णन से हृदय रचना सम्बन्धी वैदिक कालीन ज्ञान या यथार्थ आभास मिलता है (तु० संलग्न एक्स-रे प्लेट चित्र 4 जो आधुनिक शरीर विज्ञान के पुस्तक से ली गई है तथा जिसमें हृदय की पुण्डरीक आकार स्थिति दृष्टिगत होती है)।

छान्दोग्य उपनिषद् में हृदय की बाह्य परीक्षा (Physical examination) का विवरण मिलता है[62]। इस प्रकरण में यह वर्णन है कि शरीर के ताप का सम्बन्ध हृदय की धड़कन के साथ है एवं हृदय की धड़कन उसी समय तक सुनी जा सकती है जब तक शरीर में ताप है[63]। हृदय की

56–बृ० उप०, 2.3.6; तु० छान्दो० उप०, 3.13.8.
57–तु० बृ० उप०, 2.3.6 शंकर की व्याख्या
58–अ० वे०, 10.8.43.
59–सुश्रुत शा०, 4.31.
60–वहीं
61–वहीं
62–छान्दो० उप०, 3.13.8; तु० बृ० उप०, 2.3.6.
63–छान्दो० उप०, 3.13.8.
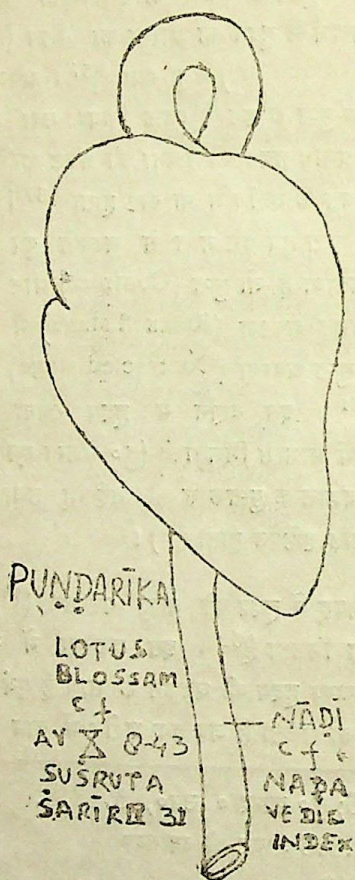
चित्र—3 पुण्डरीक

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् ।
तस्मिन् यद यक्षमात्मन्वत् तद वै ब्रह्मविदो विदुः ॥
अ० वे०, 10.8.43.

पुण्डरीकेण सदृशं हृदयं स्यादधोमुखम् ।
जाग्रतस्तद्विकसति स्वपतश्च निमीलति ॥ सुश्रुत शा०, 4.31.
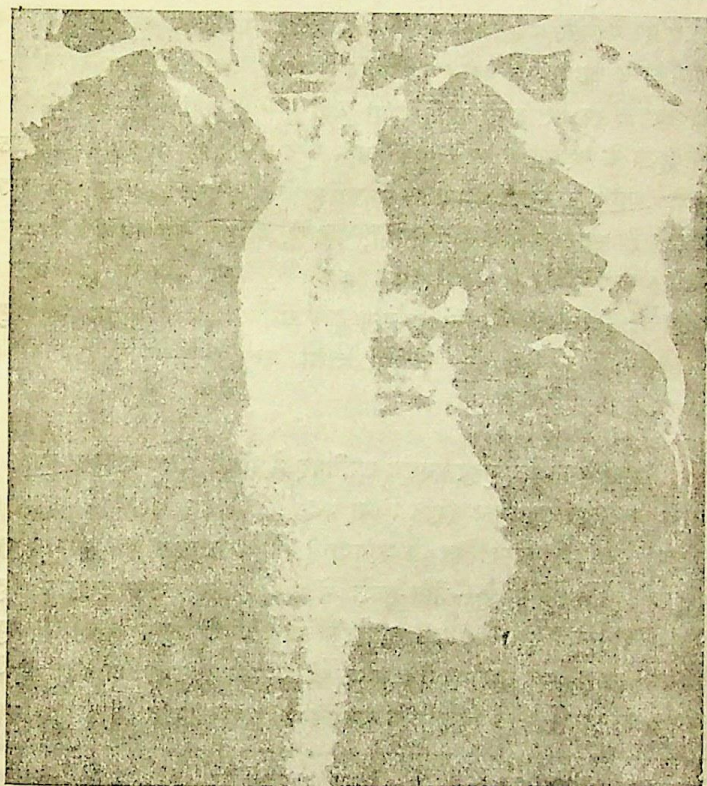
चित्र—4

Angiocardiogram, (provided by Dr. Frances Gardner) Showing the left side of the heart in a child of eleven years; anteroposterior view compare from Sketch No. 3 which shows Lotus blossam (पुण्डरीक) like shape of the heart.

Courtesy from Miss Sheena M. Gibb; For Churchill Living stone, Medical Division of Longman group Limited, 5, Bentinck Street, London. Gray's Anatomy 35 E.

धड़कन को सुनने के लिये व्यक्ति को आँख बन्द कर अपने ज्ञानेन्द्रियों को हृदय पर केन्द्रित करना चाहिए[64]। छान्दोग्य उपनिषद् में ही हृदय की कार्यंकी से उठने वाले ध्वनि का वर्णन गतिमय रथ से उठने वाले ध्वनि—'निनद' के दृष्टान्त द्वारा व्यक्त किया गया है[65]। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि हृदय के धड़कन से उठने वाले ध्वनि 'लुब-डप' तथा घोड़े के टाप से उठने वाले ध्वनि 'टप-टप' में पर्याप्त समता होती है। इसी प्रकरण में हृदय-देश से ही उठने वाले अन्य ध्वनियों, घोष[66], बोझ से लदे छकड़े के चिल्लाने जैसी ध्वनि[67], बैल के डकारने जैसे ध्वनि[68], तथा फैलती हुई आग से उठने वाली ध्वनि[69] का उल्लेख हुआ है। संभवतः ये ध्वनियाँ श्लेष्मयुक्त ब्रोंकिओल (Branchioles) से होने वाली वायु के प्रकम्पन को बोधित करती है।

दूसरे स्थल पर बृहदारण्यक उपनिषद् में किसी जन्तु अथवा व्यक्ति के ताजे विच्छेदित हृदय का वर्णन किया गया है[70]। इस वर्णन में हृदय को 'पुरुष' शब्द द्वारा सम्बोधित किया गया है। यहाँ उल्लेख है कि उस पुरुष (हृदय) का रूप ऐसा है—जैसा हल्दी में रंगा वस्त्र, जैसे इन्द्रगोप (तु० 'इन्द्रगोप' सुश्रुत सूत्र–14.22 जहाँ इसे वीर बहुटी पुष्प के लिये प्रयुक्त किया गया है) यह उष्ण है जैसे अग्नि की ज्वाला इसका आकार है जैसे कमल का फूल। इसमें बिजली के चमकने के समान गति होती है। इससे

64–वहीं

65–छान्दो० उप०, 3.13.18.

66–बृ० उप०, 5.9.1.

67–बृ० उप, 4.3.35; (बृ० उप०, 2.3.6 में हृदय द्वारा 'नेति-नेति' ध्वनि उत्पन्न करने का उल्लेख है)।

68–छान्दो० उप०, 3.13.8.

69–वहीं

70–बृ० उप०, 2.3.6.
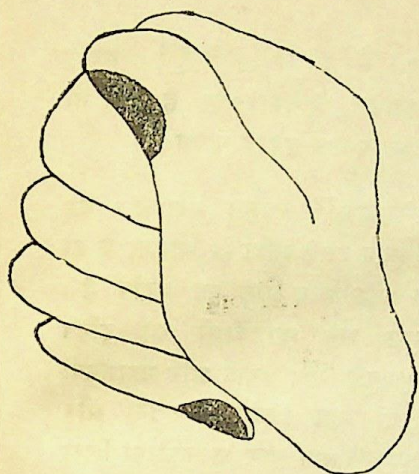
चित्र—5 अंगुष्ठ मात्र पुरुष हृदय

तु० चित्र–5, दे० पाद टिप्पणी 72
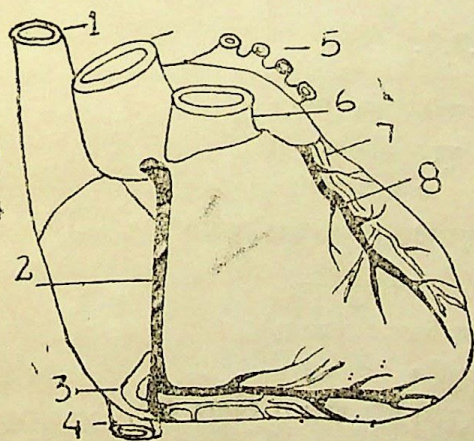
चित्र–6 पुण्डरीक; 1, 3, 4, 6, 7 नील नाड़ी; 2, 8, 9 लोहित नाड़ी

तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपम् । यथा माहारजनं वासो यथा पाण्डवाविकं यथेन्द्रगोपो यथाग्न्यर्चिर्मथा पुण्डरीकं यथा सकृद्विद्युत्तं सकृद्विद्युत्तेव ह वा अस्य श्रीर्भवति व एवं वेदाथात आदेशो नेति-नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्य-त्परमस्त्यथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥

बृ० उप० 2.3.6

'नेति-नेति' ध्वनि ब्रह्म के आदेश के रूप में उत्पन्न होती है[71]। यद्यपि उल्लिखित प्रकरण में वर्णन की शैली अत्यधिक अभिचार-पूर्ण है फिर भी उपर्युक्त वर्णन से हृदय की बाह्य रचना पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

उपनिषद् में हृदय का परिमाण अंगुष्ठमात्र[72] बताया गया है। यह तथ्य विचारणीय है कि प्रत्येक व्यक्ति के हृदय उसके मुष्ठि के आकार के ही होते हैं। निरुक्त, 14.7 में हृदय के आठ भाग होने का वर्णन है। ये आठ भाग हृदय की आठ प्रमुख रक्त वाहिकाओं को इंगित करते हैं जो हृदय की दो आरोटाओं, फुफ्फुसाभिगा धमनी और महाधमनी (Pulmonary and Aortic Aorta); दो महा शिराओं; उत्तरा और अधरा (Superior & Inferior venacava) तथा चार फुफ्फुसोत्था शिरा

71-बृ० उप०, 2.3.6.

72-अंगुष्ठमात्रः पुरुषो अन्तरात्मा।
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः॥
हृदा मन्वीशो मनसाभिक्लृप्तो।
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ श्वेता० उप०, 3.13.

अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः।
संकल्पाहंकारसमन्वितो यः॥
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव।
आराग्रमात्रो ह्यपरो अपि दृष्टः॥ श्वेता० उप०, 5.8.

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते॥
अंगुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः॥ एतद्वै तत्
क० उप०, 2.1.12-13; 2.3.17.
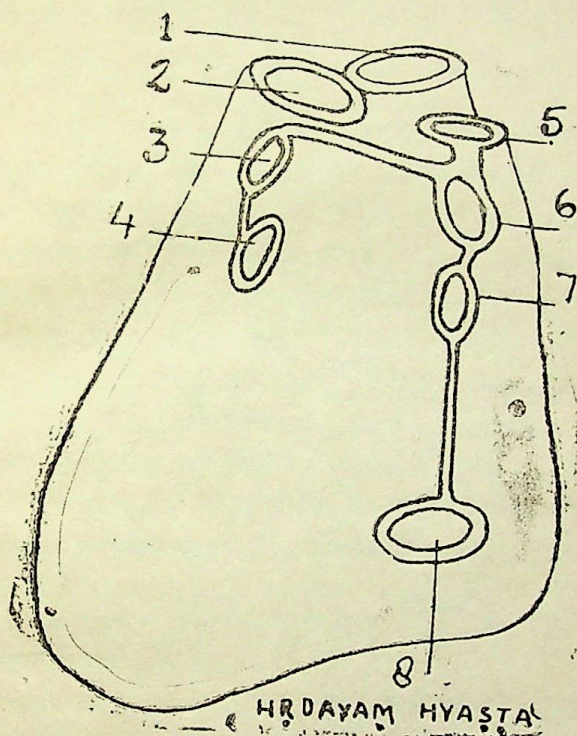
चित्र—7 (Nirukta 14–7)

(Pulmonary Veins) के रूप में जानी जाती हैं। उपनिषद् और संहिताओं में भी अनेक बार दस वाहिकाओं का उल्लेख हुआ है[73]। चरक[74] और

73–सा० वे० पू० प्र० 6, द० 4, म० 7; तु० श्वेता० उप०, 3.14; अ० वे०, 19.6.1; चरक सू०, 30.7; क० उप०, 2.3.16; प्र० उप०, 3.6; बृ० उप० 2.1.19; सुश्रुत शा०, 7.6 जहां दस रक्त वाहिनियों का उल्लेख है दे० सुश्रुत शा०, 9.3.

74–चरक सू०, 30.2, 7.
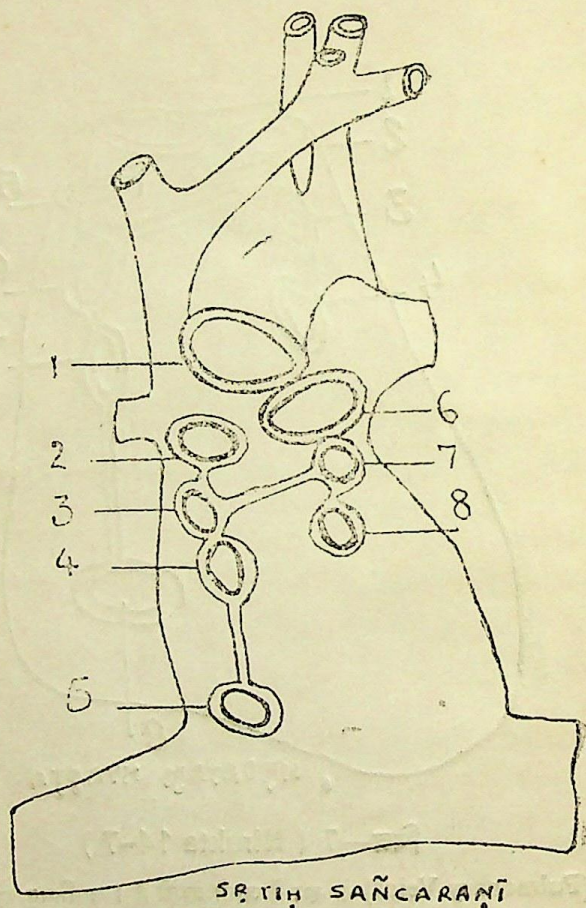
चित्र—8 (बृ० उप०, 4.2.3)

सुश्रुत[75] के वर्णन में भी हृदय के दस वाहिकाओं का वर्णन मिलता है। संभवतः इस प्रकार का विभेद संहिता और उपनिषद के ऋषियों द्वारा हार्दिक धमनियों (Coronary arteries) को परिगणना में सम्मिलित कर लेने के कारण हुआ है जो कि वास्तव में हृदय की पेशियों में धंसी रहती है[76]।

75–सुश्रुत शा०, 7.6; 9.3.
76–C. F. Gray's, Human Anatomy P. 619, 686

हृदय : आन्तरिक-रचना एवं नाड़ियाँ*

(HEART : INTERNAL—STRUCTURE AND *NĀḌĪS*)

हृदय की रचना सम्बन्धी ज्ञान के प्रति वैदिक ऋषियों में विशेष जिज्ञासा होने के अनेक सन्दर्भ तत्कालीन साहित्य में मिलते हैं[1]। आत्मा का निवास हृदय में है, इस विश्वास ने वैदिक ऋषियों में हृदय की रचना सम्बन्धी जिज्ञासा को और भी बलवती कर दिया[2]। सम्भवतः आत्मा की खोज के ही लिये वैदिक ऋषि हृदय के विच्छेदन और उसकी आन्तरिक रचना के अध्ययन की ओर उन्मुख हुये। अनेक संदर्भों से ऐसा विदित होता है कि वैदिक-काल में हृदय-ज्ञान को ही आत्मा का ज्ञान समझा जाने लगा था[3]। हृदय रचना सम्बन्धी ज्ञान को ही उपनिषदों में कभी-कभी ब्रह्म-ज्ञान (Science of immortality) कहा गया है[4]। ब्रह्म-ज्ञान सम्बन्धी शिक्षा देने वाले अनेक संस्थाओं[5] के उपनिषदों में विवरण मिलते हैं। अनेक प्रकरण में इस संस्था के विस्तृत वंशानुक्रम[6] के उल्लेख भी हैं। छान्दोग्य उपनिषद् के एक

---

* धान्वन्तरीयम के अंक सितम्बर-अक्टूबर, 1977 में प्रकाशित।

1–छान्दो० उप०, 8.1.1.

2–छान्दो० उप०, 8.3.3; 3.14.3; श्वेता० उप०, 3.13; क० उप०, 2.1.12-13; 2.3.17; प्र० उप०, 3.6; मुण्ड० उप०, 2.2.7; तु० चरक सू०, 1.73, 78.

3–छान्दो उप०, 7.1.3; 8.1.6.
तु० बृ० उप०, 2.3.6; छान्दो० उप०, 3.13.8 शंकर की व्याख्या जो हृदय को आत्मा का लिंग (Character) और इन्द्रिय (An organ of action) मानते हैं।

4–छान्दो० उप०, 8.15.1; 8.1.1 बृ० उप० 4.2.7.

5-बृ० उप०, 2.6.1—3; छान्दो० उप०, 8.15.1; 3.11.3–6.

6–वी

प्रकरण में शिष्य को किस विधि द्वारा[7] शिक्षण देना चाहिये इसका भी वर्णन है। बृहदारण्यक उपनिषद् में हृदय को 'हृद-ब्रह्म' की संज्ञा दी गई है तथा इस पर ध्यान केन्द्रित करने का निर्देश है[8]। क० उप० में हृदय को बाहर निकाल कर इसकी अर्चना करने का उल्लेख हुआ है[9]। वाज० सं० में किसी गो जातीय पशु (Bovine) के बलि प्रकरण में हृदय के अग्र तथा पश्च भाग को नियमित ढंग से काटे जाने का उद्धरण है[10]। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि हृदय को विधि पूर्वक विच्छेदित करने के विवरण विश्व की अनेक प्राचीन सभ्यताओं में भी इसी प्रकार मिलते हैं[11]। निरुक्त में हृदय के आठ भागों में बंटे होने का वर्णन है[12]। यह ज्ञान भी हृदय के नियमित विच्छेदन के उपरान्त ही प्राप्त हुआ होगा। छान्दोग्य उपनिषद् में अन्य स्थल पर हृदय

7–हरिः ॐ अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरो अस्मिन्नन्त-राकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥

छान्दो० उप०, 8.1.1.

तं चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरो अस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति स ब्रूयात् ॥

छान्दो० उप०, 8.1.2.

8–बृ० उप०, 5.3.1; 5.4.1; 4.1.7.

9–तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण ।
तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥

क० उप०, 2.3.17.

10–वाज० सं०, 39.8.

11–Encyclopaedia of Religion and Ethics, See 'heart'.
यहाँ हृदय को बाहर निकाल कर पूजन करने की पद्धत्ति विश्व के अनेक प्राचीन सभ्यताओं में वर्णित है c. f.—J. G. Frazer, The Golden Bough p. 567, 104,771, 389, 652.

12–निरुक्त, पृ० 604.

के सूक्ष्मतर भागों को भी विच्छेदित कर अध्ययन करने का उल्लेख किया गया है[13]।

वृहदारण्यक उपनिषद् के एक प्रकरण[14] में हृदय के अनेक आन्तरिक अंगों का वर्णन है। इस प्रकरण में अक्ष,[15] इन्ध[16] और विराट[17], अति 'रहस्यपूर्ण' शब्द हैं। अतः उल्लिखित उद्धरण का वास्तविक अर्थ विचारणीय है। उपनिषदों के आधुनिक व्याख्याकारों ने उपरोक्त प्रकरण में प्रयुक्त अक्ष की व्याख्या नेत्र के रूप में की है[18]। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इन्ध और विराट शब्दों के अर्थों को भी वास्तविक ढंग से नहीं समझा गया है[19]। निरुक्त ने इन्ध[20] और विराट[21] शब्दों की

13–छान्दो० उप०, 8.1.1.

14–इन्धो ह वै नामैष यो ग्रयं दक्षिणे अक्षन् पुरुषस्तं वा एतमिन्धम् सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेणैव परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः ॥

वृ० उप०, 4.2.2; तु० ऐत० उप०, 1.3.14.

अथैतत् वामे अक्षणि पुरुषरूपमेषास्य पत्नी विराट् तयोरेष संस्तावो य एषो अन्तर्हृदय आकाशो अथैनयोरेतदन्नं य एषो अन्तर्हृदये लोहित-पिण्डो अथैतयोरेतत् प्रावरणं यदेतदन्तर्हृदये जालकमिवाथैनयोरेषा सृतिः सञ्चरणी यैषा हृदयादूर्ध्वा नाड्यु च्चरति यथा केशः सहस्रधा भिन्न एवमस्यैता हिता नाम नाड्यो अन्तर्हृदये प्रतिष्ठिता भवन्त्येताभिर्वा एतदास्रवदास्रवति तस्मादेष प्रविविक्ताहारतर इवैव भवत्यस्माच्छा-रीरादात्मनः ॥ वृ० उप०, 4.2.3.

15-वृ० उप०, 4.2.2.

16–वही

17–वृ० उप०, 4.2.3.

18–वृ० उप०, अनु० Max Muller, Sacred Books of East.

19–वही

20–निरुक्त, पृ० 196, 366, 393, 491, 456.

21-निरुक्त, पृ० 351.

जो व्याख्या की है वह उल्लिखित उद्धरण के सन्दर्भ में सटीक नहीं प्रतीत होता है। शंकर की व्याख्या से भी कोई निष्कर्ष नहीं निकलता है[22]।

विच्छेदन के दृष्टिकोण से हृदय में द्विपार्श्वीय समरूपता (Bilateral-Symmetry) पायी जाती है[23]। मानव शरीर एवं उसके अंगों में इस प्रकार की समरूपता होने के प्रकरण वैदिक साहित्य में अन्यत्र भी मिलते हैं[24]। ऐत० ब्रा० में विषवन्तु के वर्णन के प्रसंग में मानव शरीर के दो समरूप अर्धांशों में बँटे होने का उल्लेख किया गया है[25]। ऐत० ब्रा० के दूसरे प्रकरण में जनन अंगों का भी ऐसा ही विवरण मिलता है[26]। बृ० उप० (4.2.2–3)

22–बृ० उप०, 4.2.2, शंकर व्याख्या,

23–Gray's Anatomy, p. Intro. XIV.

24–तु० अ० वे०, 8.9.10 यहाँ 'विराट' को युग्म रूप में प्रदर्शित किया गया है। अ० वे०, (9.9.13) में सात सौ बीस इकाइयों के शरीर उपस्थित होने का उल्लेख है। यह संख्या तीन सौ साठ की अर्धांश है। ऋग्वेद (1.164.48) में शरीर तीन सौ साठ इकाइयों से निर्मित प्रतीत होता है। ऐसा ही विवरण ऐत० ब्रा० (7.2.1) में भी मिलता है।

25–The *Viṣuvant* is like a man; the first half of the *Viṣuvant* is like the right half of a man; the second half of the *Viṣuvant* is like the left half; therefore they call it the latter. The *Viṣuvant* is the head of a man standing on the level; man is composed of (two) sections; thus there is seen in the middle of head a suture as it were.

Keith (Trans). Aitareya Brahman 4.3.8
(The Harvard Oriental Series)
Vol. XXV.

26–The cauldron is a divine pairing; the cauldron is the member, the two handles the testicles, the spoon the thigh bones, the milk the seed; this seed is poured in agni —— ibid 1.4.5.

में दक्षिण अक्ष एवं वाम अक्ष का उल्लेख वास्तव में हृदय के दक्षिण और वाम अर्धांशों (The right and the left halves of the heart) को व्यक्त करने के लिये हुआ है। इस संदर्भ में अक्ष शब्द की व्याख्या नेत्र के रूप में करना अनुपयुक्त है। यहां यह उल्लेखनीय है कि हृदय में कोई भी नेत्र अथवा नेत्र के आकार की रचना नहीं होती। बृ० उप० में ही अनेक स्थलों पर नेत्र को व्यक्त करने के लिये चक्षु[27] शब्द का प्रयोग किया गया है। यह भी ध्यातव्य है कि दोनों नेत्र कभी संयुक्त नहीं होते। उनके बीच में सदैव अन्तर होता है किन्तु उद्धृत उद्धरण में दोनों अक्षों के संयुक्त[28] (संस्ताव) होने का वर्णन किया गया है। ऐसी दशा में व्याख्याकार द्वारा 'अक्ष' शब्द की व्याख्या नेत्र के रूप में करने का कोई औचित्य नहीं है। अक्ष का तात्पर्य हृदय के दाहिने और बांये अक्ष या भाग (Right and left axes or halves) से है। इस व्याख्या से प्रस्तुत उद्धरण में हृदय के रचना-सम्बन्धी वर्णन का अर्थ स्पष्ट और बोधगम्य हो जाता है। वास्तव में हृदय की रचना दो अर्धांशों जिन्हें क्रमशः दांया, वामन-हृदन (Lesser heart) और बांया, विराट्-हृदय (Greater heart) कहते हैं, के संयोग से हुई है। ऐसे दोनों हृदयों के बीच एक लम्बवत भित्ति पायी जाती है जो हृदयों के दोनों अर्धांशों को संयुक्त[29] (संस्ताव) किये रहती है। यहां 'संस्ताव' का तात्पर्य ऐसे दोनों हृदयों के बीच के संयोजक भित्ति (Septum) से ही है।

मैकडानेल एवं कीथ ने अक्ष[30] शब्द की व्याख्या रथ के अक्ष के रूप में की है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि मुण्ड० उप० (2.2.6) तथा बृ० उप० (2.5.15) में हृदय को रथ की उपमा दी गई है। मुण्डको-

27–बृ० उप०, 1.3.4; 3.1.4; 3.2.5; 3.9.5, 12.
28–बृ० उप०, 4.2.2.
29–वही
30–मैक० एवं कीथ, वैदिक इण्डेक्स, 'अक्ष' पृ० 6

1–दक्षिण अक्ष (Right heart)
2–हिता (Atria)
3–हृदयाकाश (Auricular space)
4–अन्तःहिता नाड़ी (Coronary vessel)
5–अन्तःहृदय जालक (Coronary tendineale)
6–वाम अर्धँद्वृगल (Left halve)
7–संस्ताव (Septum in between the greater & lesser heart)
8–वेश्म (Ventricular space)
9–दक्षिण अर्धँद्वृगल (Right halve)
10–लोहित पिण्ड (Valves)
11–वाम अक्ष (Left heart)
12–नाड़ियाँ (Vessels)
13–इन्ध (Pulmonary aorta)
14–विराट (Aortic-aorta)
I—X–सृतिःसंचरणी (Circulatory opening)

→

उपनिषद् के एक अन्य उद्धरण में शरीर के रक्तवाहिनियों के हृदय के नाभी से जुड़े होने का उल्लेख है[31]। अक्ष के अन्य अर्थ भी है, उदाहरणार्थ पासा[32] या पासा खेलने की गोट[33], विभीदक-फल के बीज[34] आदि, किन्तु ये अर्थ बृ॰ उप॰ के उल्लिखित उद्धरण में प्रयुक्त 'अक्ष' शब्द को स्पष्ट नहीं करते। बृ॰ उप॰, 4.2.2-3 में हृदय रचना का वर्णन एक क्रम में तथा एक दूसरे से सम्बन्धित है। इस वर्णन में दक्षिण अक्ष, वाम अक्ष के साथ-साथ हृदय के अन्य अन्तरांगों इन्ध[35], विराट[36], इन्ध-पत्नी[37], इन्द्र[38], संस्ताव[39]

31-मुण्ड॰ उप॰, 2.2.6.
32–मैक॰ एवं कीथ, वैदिक इण्डेक्स, पृ॰ 6.
33–वही
34–वही
35–बृ॰ उप॰ 4.2.2.
36–बृ॰ उप॰ 4.2.3.
37–वही
38–एत॰ उप॰, 1.3.14.
39–बृ॰ उप॰, 4.2.3.
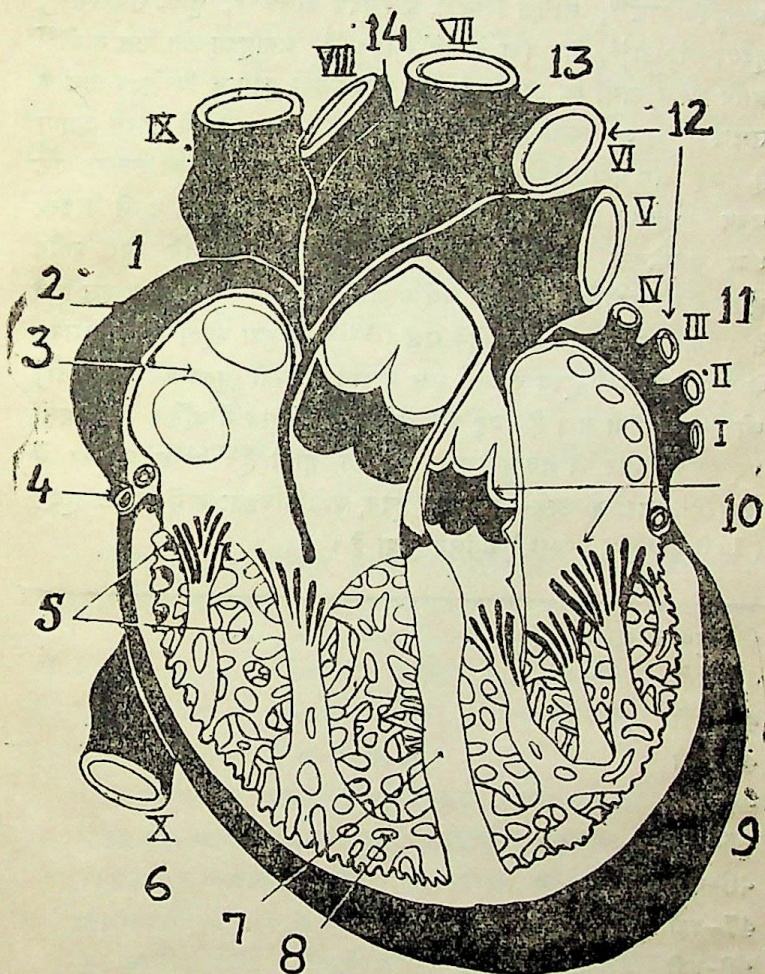
चित्र 9--हृदय की अन्तःरचना (बृ० उप०, 4.2.2-3)

(नोट—चित्र विवरण पृष्ठ 22 पर देखें)

अन्तंहृदयाकाश[40], लोहित पिण्ड[41], अन्तंहृदय जालक[42], सृतिः संचरणी[43], हृदयदुर्ध्वानाड़ी[44], सहस्रधा केशः[45], हिता[46] अन्तंहृदय-प्रतिष्ठित नाड़ी[47] आदि अनेक भागों का उल्लेख है, जिनकी व्याख्या हृदय के विच्छेदन ज्ञान के सन्दर्भ में की जा सकती है। इन्ध को हृदय के दांये भाग में स्थित बताया है। यह अंग परोक्ष (Cover) में स्थित हैं तथा इस शब्द का उल्लेख एक वचन में है[48]। ऐसी दशा में उपलब्ध साक्ष्यों की विवेचना करने से इन्ध शब्द पलमोनरी एओरटा (Pulmonary aorta) के लिये प्रयुक्त प्रतीत होता है जो एओर्टिक धमनी के अर्ध मण्डल (Aortic-arch) से आवृत्त होने से परोक्ष है और हृदय के दाहिने अक्ष (Axis) से जुड़ा रहता है। वृ० उप० के उसी उद्धरण में हृदय के बायें अक्ष में इन्ध की पत्नी (पुरुष रूपमेषव्यपत्नी) को स्थित बताया गया है। यह कल्पना वैदिक साहित्य में वर्णित अन्य स्थलों पर अर्धनारीश्वर की अवधारणा से प्रभावित होती है[49]। इस प्रकरण में विराट[50] शब्द का उल्लेख सम्भवतः हृदय, या विशिष्टतः बायें विराट हृदय (Left greater heart) के लिये हुआ है।

40-वृ० उप०, 4.2.3.
41-वही
42-वही
43-वही
44-वही
45-वही
46-वही
47-वही
48-वही
49-तु० ऐत० ब्रा०, 1.4.5 एवं 4.3.8 जहां मनुष्य शरीर को दैविक युग्म की संज्ञा दी गई है।
50-वृ० उप०, 4.2.3.

सामवेद की एक ऋचा में विराट का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उसने दस अंगुलियों द्वारा सम्पूर्ण भूमि को धारण किया है[51]। श्वेता० उप० (3.14) में शरीर को भूमि की संज्ञा दी गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक ऋषियों ने इस रूपक में हृदय को विराट शब्द से अभिहित किया है तथा दस प्राथमिक रक्त वाहिनियों का उल्लेख अंगुलियों के रूप में करते है[52]। बृ० उप० (4.2.2-3) में वर्णित लोहित पिण्ड आधुनिक शब्दावली में हृदय के निलय-आलिन्द कपाट (Auriculo-Ventricular valves) प्रतीत होते हैं, क्योंकि इसकी रचना पिण्डाकार होती है। अन्तर्हृदय जालक ही कार्डेई टेन्डेनेई (Chordae Tendineae) है। ये कपाटों का आच्छादन (प्रावरण) करते हैं। सृतिः शब्द हृदय के उन छिद्रों (Sutures) को निर्दिष्ट करता है जिसके द्वारा रक्त का संचरण होता है। इसी प्रकार सहस्रधा केशः नाड़ी, कोरोनरी रक्त वाहिकाओं (Coronary capillaries) के सहस्त्रों रक्त केशिकाओं को इंगित करता है।

'हिता' शब्द का उल्लेख अनेक बार वैदिक साहित्य में हुआ है[53]। मैकडानल एवं कीथ हिता और हिरा शब्दों में कोई विभेद नहीं

51–सा०वे०पू०प्र० 6-द० 4-म० 3; मु०उप०, 4.1; मुद्०अ०, 1.1; 2.5.
52–हृदयात संप्रतायन्ते सिराणां दश मातरः। काश्यप शा०.
तु० श्वेता० उप०, 5.8 यवं 3.14.
सप्त सिराशतानि भवन्ति; याभिरिदं शरीरमाराम इव जलहारिणीभिः केदार इव च कुल्याभिरुपस्निह्यते अनुगृह्यते चाकुञ्चनप्रसारणादिभिर्विशेषैः, द्रुमपत्रसेवनीनामिव तासां प्रतानाः, तासां नाभिर्मूलं ततश्च प्रसरन्त्यूर्ध्वमधस्तिर्यक् च ॥ सुश्रुत शा० 7.3.
तु० छान्दो० उप०, 2.23.3; बृ०उप०, 5.1.1; माण्डू० उप० आगम प्रकरण; अ० वे०, 10.2.11.
प्र० उप०, 3.6; बृ० उप०, 2.1.19; 4.3.20; क०उप०, 2.3.26.
53–बृ० उप०, 4 3.20; 2.1.19; क०उप०, 2.3.16; प्र०उप०, 3.6.

मानते[54] परन्तु यह विचारणीय है कि हिता शब्द से हिरा का बोध नहीं होता। हिता शब्द सदैव हृदय के किसी भाग के लिये प्रयुक्त हुआ है, जबकि हिरा का हृदय के साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध द्योतित नहीं होता। हिता शब्द वास्तव में हृदय के अग्र भाग को सूचित करने के लिये प्रयुक्त हुआ है। इसके विपरीत हिरा शरीर की कोई सामान्य रक्त-वाहिका (Blood-vessel) प्रतीत होती है। सुश्रुत ने शरीर में सात सौ शिराओं[55] के होने का उल्लेख किया है। हिरा शब्द शिरा का प्रारूप रहा होगा क्योंकि अनेक पूर्व वैदिक शब्दों के 'ह' ध्वनि का परिवर्तन 'स' ध्वनि में हो गया। हिता शब्द यहाँ एट्रिया (Atria) को बोधित करता है क्योंकि हृदय से जुड़ने वाली समस्त रक्त-वाहिनियाँ एट्रिया से होकर हृदय में प्रवेश करती है। उपनिषद् में अनेक बार हितानाड़ी[56] को हृदय से निकल कर शरीर में जाल की तरह विस्तृत हो जाने का उल्लेख किया गया है। ऐसी दशा में हिता शब्द की व्याख्या अग्र हृदय या एट्रिया (Atria) के रूप में तथा हिता-नाड़ी की व्याख्या उन रक्त वाहिकाओं के रूप में जो अग्र हृदय से आकर जुड़ती है, करना तर्कसंगत प्रतीत होता है।

अन्तर्हृदय में प्रतिष्ठित नाड़ी[57] का तात्पर्य कोरोनेरी रक्त वाहिनियों (Coronary vessels) से है। यहाँ यह भी निर्दिष्ट है कि, यह नाड़ी हृदय को आहार द्वारा पोषित करती है। आहार शब्द की व्याख्या निरुक्त में

54–मैक० एवं कीथ, वैदिक इण्डेक्स, 'हिता''हिरा' पृ० 506. सुश्रुत शा०, 9.3. में 'सिरा' का उल्लेख करते हैं। आधुनिक चिकित्सा–विज्ञान की पुस्तकों में 'शिरा' पाठ-विभेद है।

55–सुश्रुत शा०, 7.6.

56–बृ० उप०, 4.3.20; 2.1.19; 4.2.3; क० उप०, 2.3.16; प्र० उप०, 3.6; कौषी० उप०, 4.19.

57–बृ० उप०, 4.2.3 तु० Coronary vessels Gray's Anatomy p. 619, 686.

भोजन के रूप में की गई है, किन्तु इस प्रकरण में आहार का तात्पर्य रक्त से है, क्योंकि अर्न्तहृदय नाड़ी वास्तव में रक्त द्वारा हृदय को पोषित करती है[58]। हृदय द्वारा रक्त के परिवहन का विचार उपनिषदों (बृ० उप०, 5.9.1; 5.3.1) में प्रतिष्ठित है।
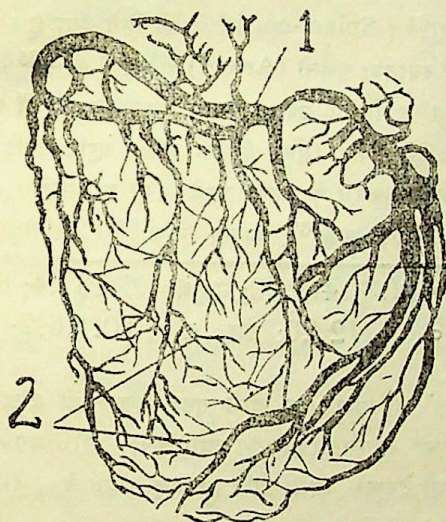
चित्र 10—अन्तर्हृदय-प्रतिष्ठित नाड़ी

1–हिता नाड़ी

2–केशः सहस्त्रधा भिन्न एवमस्यैता हितानाम् नाड्यो अन्तर्हृदये प्रतिष्ठिताः भवन्त्येताभिर्वा एतदास्त्रवदास्त्रवति तस्मादेष प्रविविक्ताहारतर इवैव भवत्यस्माच्छारीरादात्मनः।

(The *Antah hitā nāḍīs* are distributed within the heart like thousands of time divided hair the heart body receives nourishment through it.)

बृ० उप०, 4.2.3.

58–वही.

हृदय के प्रसंग में वैदिक साहित्य में प्रयुक्त नाड़ी शब्द पर विचार करना समीचीन होगा। नाड़ी एक सामान्य शब्द है जिसका प्रयोग वैदिक साहित्य में विभिन्न स्थलों[59] पर रक्त वाहिका (Blood-vessel), तन्त्रिकीय वाहिका[60] (Nerve-cord), शुक्र वाहिका[61] (Vas-deferens), अण्ड-वाहिका[62] (Oviduct) ध्वनि वाहिका[63] (Tracheal-tube) तथा कभी-कभी सुषुम्ना[64] (Spinal-cord) के भी लिये हुआ है। मैकडानल एवं कीथ ने नाड़ी की व्याख्या धमनी (Artery) के रूप में की है[65]। किन्तु उपरोक्त संदर्भों के अन्तर्गत नाड़ी की व्याख्या मात्र धमनी के रूप में करना अनुचित प्रतीत होता है। ऐसे संकेत मिलते हैं कि वैदिक ऋषि विभिन्न नाड़ियों को एक दूसरे से पहचान करने के लिये उनके रंगों का उल्लेख करते थे—यथा नील नाडी[66], पिंगल नाड़ी[67], अरुण नाडी[68], लोहित नाडी[69], पीत

59–बृ० उप०, 4.2.3; 4.3.20; अ० वे०, 6.138.4; 6.10.7, 15, 16; का० सं०, 12.20; शत० ब्रा०, 10.4.5.2; कौषी० उप०, 4.10.

60–कण्ठ चक्रं चतुरङ्गुलंतत्र वामे इडा चन्द्रानाड़ी दक्षिणे पिङ्ला सूर्य नाड़ी तन्मध्ये सुषुम्नां श्वेतवर्णा ध्यायेत्॥ सौ० उप०, 3.5.

61–ये ते नाड्यौ देवकृते ययोस्तिष्ठति वृष्ण्यम्। अ० वे०, 6.138.4.

62–अ० वे०, 1.3.6.

63–जिह्वा ज्या भवति कुल्मलं वाङ्नाड़ीका दन्तास्तपसाभिदिग्धाः।
अ० वे०, 5.18.8.

64–सौ० उप०, 3.5.

65–मैक० एवं कीथ, वैदिक-इण्डेक्स, पृ० 503; तु० अ० वे०, 1.17.2; 6.90.2.

66–छान्दो० उप०, 8.6.1; बृ० उप०, 4.4.9; 4.3.20. सायण द्वारा की गयी व्याख्या।

67–वही।

68–अ० वे०, 10.2.11.

69–अ० वे०, 10.2.11; छान्दो० उप०, 8.6.1.
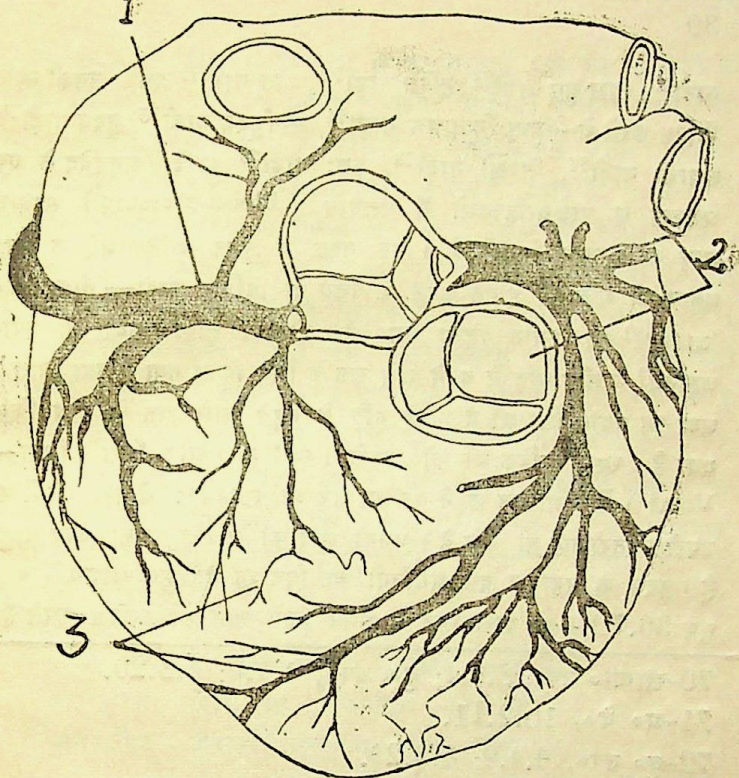
चित्र 11

1—अन्तःहिता नाड़ी (Coronary vessels), 2—सृतिः संचरणी (Circulatory openings), 3—रक्त केशिका (Blood capillaries)

चित्र 12

1—नाड़ी (*Nāḍī*)

2—केशिका (Capillaries)

3—हृद आकार पीपल पत्र (Cardiac shape leaf of *Ficus religiosa*)

पर्णानामिव सीवन्यः सरणाच्च सिराः स्मृताः ।

काश्यप शा० तु० चित्र 11 दे० छान्दो० उप०, 2.23.3.
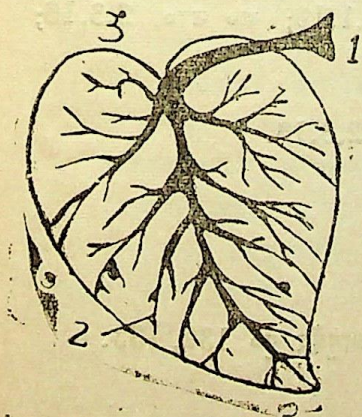
नाड़ी[70], ताम्र-धूम्र नाड़ी[71], हरित नाड़ी[72], श्वेत नाड़ी[73] अथवा उनकी स्थिति निर्दिष्ट करते थे—यथा हितानाम नाड़ी[74], अन्तर्हृदय नाड़ी[75], हृदय नाड़ी[76], अवाची नाड़ी[77], तिरश्ची नाड़ी[78], केशः नाड़ी[79] आदि। अथर्ववेद के एक प्रकरण से रक्त-वाहिकाओं में रक्तदाब (Blood-pressure) सम्बन्धी ज्ञान की झलक मिलती है। एक सूक्त में रक्त वाहिकाओं के रक्त बहाव की गति को इंगित करने के लिये दो विभिन्न शब्दों—'तीव्रा'[80] व 'जाताः'[81] का प्रयोग किया गया है। संभवतः तीव्राः शब्द का प्रयोग धमनियों में तीव्र गति से बहने वाले रक्त के लिये किया गया है तथा 'जाताः' शब्द का प्रयोग शिराओं में धीमी गति से बहने वाले रक्त के साथ किया गया है। रक्त वाहिकाओं को धमनी (Artery) और हिरा (शिरा—Veins) में विभाजित करने का आधार भी सम्भवतः वैदिक आर्यों का उपरोक्त निरीक्षण ही रहा है। धमनी शब्द की उत्पत्ति 'धम' शब्द से हुई है। हृदय के महामूल दस धमनियों का विवरण देते हुए आत्रेय (चरक सूत्र 30.7) उनके द्वारा रक्त के धमन किये जाने का उल्लेख करते हैं।

70-छान्दो० उप०, 8.6.1; बृ० उप०, 4.4.9; 4.3.20.
71-अ० वे०, 10.2.11.
72-बृ० उप०, 4.4.9; 4.3.20.
73-छान्दो० उप०, 8.6.1; बृ० उप०, 4.4.9; 4.3.20.
74-बृ० उप०, 4.3.20; 4.2.3; 2.1.19; क० उप०, 2.3.16; प्र० उप०, 3.6.
75-बृ० उप०, 4.2.3.
76-छान्दो० उप०, 8.6.1; क० उप०, 2.3.16.
77-अ० वे०, 10.2.11.
78-वही।
79-बृ० उप०, 4.2.3.
80-अ० वे०, 16.2.11.
81-वही; राम गोपाल शास्त्री वेदों में आयुर्वेद, पृ० 132, 133.

वे इस सन्दर्भ में 'विधम्यत्' शब्द का प्रयोग करते हैं । आत्रेय धमनियों के लिये 'विधम्यत्' शब्द का प्रयोग सम्भवतः धमनियों से 'धम्म-धम्म' की ध्वनि उत्पन्न होने के कारण ही करते हैं । यास्क ऋग्वेद (3.30.10) की व्याख्या करते हुए 'धमन्ती' शब्द का अर्थ 'गत्यार्थक' बताते हैं[82] । काश्यप[83] हृदय के प्राथमिक रक्त वाहिनियों को 'सिरा' शब्द की संज्ञा देते हैं । आत्रेय हृदय से रक्त धमन करने वाली नाड़ियों को धमनी तथा सिरसने (Porous) वाली नाड़ियों को सिरा कहते हैं[84] । किन्तु धन्वन्तरि सिरा और धमनियों के विभेद से पूर्ण भिन्न प्रतीत होते हैं । धन्वन्तरि ने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का खण्डन करते हुए आकृति, चिन्ह और व्यञ्जन के आधार पर सिरा, धमनी और स्रोतस को अलग-अलग बताया है[85] ।

वैदिक साहित्य में हिरा (सिरा) और धमनी दोनों ही शब्द प्रयुक्त हुए है[86] । ऐसा प्रतीत होता है कि, रक्त वाहिनियों को ऐसे दो नामकरण

82–निरुक्त, पृ० 256, 304, 482.

83–हृदयात् संप्रतायन्ते सिराणां दश मातरः ।
ऊर्ध्वं चतस्रो द्वे तिर्यक्चतस्रो अधोवहाः सिराः ॥
व्याप्नुवन्ति शरीरं ता भिद्यमानाः पुनः पुनः ।
पर्णानामिव सीवन्यः सरणाच्च सिराः स्मृताः ॥
काश्यप शा०. तु० चरक सू०, 30.2.12.

84–ध्मानाद्धमन्यः स्रवणात्स्रोतांसि सरणात्सिराः । चरक सू०, 30.11.

85–चतुर्विंशतिर्धमन्यो नाभिप्रभवा अभिहिताः । तत्र केचिदाहुः—सिराधमनी स्रोतसामविभागः, सिराविकारा एव हि धमन्यः स्रोतांसि चेति । तत्तु न सम्यक्, अन्या एव हि धमन्यः स्रोतांसि च सिराभ्य, कस्मात् ? व्यञ्जनान्यत्वात्, मूलसन्नियमात्, कर्मवैशेष्यात्, आगमाच्च, केवलं तु परस्परसन्निकर्षात् सदृशागमकर्मत्वात् सौक्ष्म्याच्च विभक्तकर्मणामप्यविभाग एव कर्मसु भवति ॥ सुश्रुत शा०, 9.3.

86–दे० 'हिरा' ऋ० वे०, 1.17.1; 2.38.2; 'धमनी' ऋ०वे०, 1.17.3; 7.35.2.

भिन्न-भिन्न व्यंजनों के ही कारण दिये गये हैं। रक्त वाहिनयों के व्यंजनों को ही इंगित करने के लिए वर्ण (Colour) और धमनी (Flowing-one) शब्द निर्दिष्ट प्रतीत होते हैं।

अरुण, पीत और लोहित वाहिनियाँ विभिन्न आभाओं या वर्णों को द्योतित करने के लिए प्रयुक्त हुई है। वास्तव में रक्त का वर्ण उसमें प्लाज्मा (Plasma), लाल रक्त कणिकाओं (Erythrocytes) एवं आक्सीजन (Oxigen) की मात्रा पर निर्भर करता है। मात्र प्लाज्मा युक्त रक्त केशिकायें अथवा वे रक्त केशिकायें जिनमें लाल रक्त कणिकाओं की संख्या अल्प होती है, पीत दिखायी देती है। अरुण या गहरे लाल वर्ण की नाड़ियों का तात्पर्य उन प्रधान रक्त वाहिनियों से प्रतीत होता है जिनमें सद्यः आक्सीजन मिश्रित रक्त प्रवाहित है। इस तथ्य की पुष्टि अथर्ववेद के एक सूक्त में अरुण के साथ 'तीव्र' शब्द के प्रयुक्त होने से भी स्पष्ट हो जाता है[87]। नील नाड़ी, सिराओं (Veins) को इंगित करती है तथा हरित नाड़ी, पित्त-वाहिनी (Gall duct) का द्योतक है। श्वेत नाड़ी का तात्पर्य मेडुलेटेड तन्त्रिकाओं (Medullated-nerve) से है। इसी प्रकार पिंगल नाड़ी का रंग मेडुलाविहीन (Non medullated nerve) के रंग से मिलने के कारण शरीर-विज्ञान का विद्यार्थी स्पष्टतया इस नाड़ी की पहचान नान-मेडुलेटेड तन्त्रिका के रूप में कर सकता है। अथर्ववेद में संभवतः इसी नाड़ी (Nerve) का वर्ण ताम्रधूम्र बताया गया है।

बृहदारण्यक उपनिषद् (4.2.3) में ऊर्ध्व नाड़ी का उल्लेख है। मैक्समूलर ने इस नाड़ी का अर्थ ऊपर की ओर जाने वाली धमनी (Artery) किया है परन्तु यह उचित नहीं प्रतीत होता। क्योंकि अन्य स्थलों[88] पर इस नाड़ी के उल्लेख से इसके तन्त्रकीय (Nerve like) गुणों का

87–अ० वे०, 10.2.11.

88–शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिः सृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥
क० उप०, 2.3.16.

बोध होता है। अथर्ववेद (10.2.26) में कहा गया है कि मस्तिष्क ऊर्ध्वनाड़ी के द्वारा ही हृदय को प्रेरित (Motivate) करता है। यह नाड़ी हृदय और मस्तिष्क को सीने वाले सूत्र या धागे के समान जोड़ती है[89]। उपनिषदों में नाड़ियों की विस्तृत व्याख्या मिलती है[90]। तैत्ति० उप० में सम्भवतः इसी नाडी को इंगित करते हुए कहा गया है कि यह शीर्ष से हृदय तक विस्तृत है। यह नाडी कपाल को विदीर्ण कर कोकुआ (Uvula) के सन्निकट से होकर अन्तराधि में स्थित हृदय तक गयी है। ऐतरेय उपनिषद् में भी यह आख्यान आया है[91]। यहाँ

तदेष श्लोकः। शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिः सृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति ॥
छान्दो० उप०, 8.6.6; क० उप०, 2.3.16.

89—मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदय च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः ॥ अ०वे०, 10.2.26.

90—तैत्ति० उप०, 1.6.1-2; ऐत० उप०, 1.3.12; जा० उप०, 4.1.10; यो० उप०, 15–17.

91—स य एषो अन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः। अमृतो हिरण्मयः। अन्तरेण तालुके। य एष स्तन इवावलम्बते। सेन्द्रयोनिः। यत्रासौ केशान्तो विवर्तते। व्यपोह्य शीर्षकपाले भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति। भुव इति वायौ।
सुवरित्यादित्ये। मह इति ब्रह्मणि। आप्नोति स्वाराज्यम्। आप्नोति मनसस्पतिम्। वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः। श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः एतत्ततो भवति। आकाशशरीरं ब्रह्म। सत्यात्म प्राणारामं मन आनन्दम्। शान्तिसमृद्धममृतम्। इति प्राचीनयोग्योपास्स्व ॥
—तैत्ति० उप०, 1.6.1-2.
स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत। सैष विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनम्। तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः, अयमावसथो अयमावसथोऽयमावसथ इति ॥—ऐत० उप०, 1.3.12.

इस नाड़ी के तीन अवसाथ का उल्लेख है। ऐसा प्रतीत होता है यह विवरण मस्तिष्क से निकलने वाले तीन प्रमुख नाड़ियों, सुषुम्ना (Spinal-cord), सिम्पैथटिक नर्व कार्ड (Sympathetic nerve cord) तथा वैगस पैरासिम्पैथटिक नर्व कार्ड (Vagus, parasympathetic nerve Cord) के लिए प्रयुक्त हुआ है। सिम्पैथटिक तथा वेगस पैरासिम्पैथटिक नाड़ियाँ युगल होती हैं[92]। अतः उपयुंक्त दोनों उपनिषदों के आख्यान सौभाग्य लक्ष्मी उपनिषद् की व्याख्या से पूर्ण स्पष्ट हो जाते हैं। यहाँ इन नाड़ियों पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि कंठ चक्र (Cervical plexus) से चार अंगुल ऊपर से सुषुम्ना के दक्षिण भाग में पिंगला और सूर्य नाड़ियाँ तथा वाम भाग में इडा और चन्द्र नाड़ियाँ स्थित हैं[93]। यहाँ पिंगला और सूर्य नाड़ियों का तात्पर्य दक्षिण सिम्पैथटिक तथा पैरासिम्पैथटिक नर्व कार्ड से है, इड़ा और चन्द्र नाड़ियों का तात्पर्य वाम सिम्पैथटिक तथा पैरासिम्पैथटिक नर्व कार्ड है।

92–Gray's Anatomy, p. 1019, 1071.

93–हृदयचक्रमष्टदलमधोमुखं तन्मध्ये ज्योतिमय लिङ्गाकारं ध्यायेत् सेवं हंसकला सर्वलोकवश्यकरी भवति।

कण्ठचक्रं चतुरंगुलंतत्र वामे इडा चन्द्रनाडी दक्षिणे पिङ्ला सूर्यनाडी तन्मध्ये सुषुम्नां श्वेतवर्णां ध्यायेत् य एवं वेदानाहतसिद्धिदाभवति।

सौ० उप०, 3.4-5.

हृदय में आत्मा के भौतिक अस्तित्व का अन्वेषण

A SEARCH OF PHYSICAL EXISTANCE OF *ĀTMĀ* IN THE HEART

आत्मा सम्बन्धी प्राचीनतम विश्वास की अभिव्यक्ति ऋग्वेद में हुई है[1]। यहाँ आत्मा की अवधारणा अति सरल है। एक ऋचा में वात को आत्मा कहा गया है। वात शब्द के सामान्य अर्थ वायु[2] हैं; किन्तु श्वास[3] एवं प्राण के लिए भी इसका उल्लेख हुआ है। ऐसी दशा में परोक्षतः आत्मा का पर्याय इन सभी से है। वात से सम्बन्धित होने के कारण मातरिश्वा[4] भी आत्मा के द्योतक हो सकते हैं। उद्धरणीय है कि, ऋग्वेद की यह ऋचा मृत्यु संस्कार से सम्बन्धित है। अतः विश्वास किया जाता है कि, ऐसे संस्कार के समय इस गान ने जनमानस के भावुक पटल को सहस्राब्दियों तक उद्वेलित किया होगा। उपनिषदों में आत्मा के सम्बन्ध में व्यापक आख्यान मिलने के यही कारण हो सकते हैं। बाद के ग्रन्थों में आत्मा-सम्बन्धी चिन्तन में विभेद है। बृ० उप० में वात को आत्मा का प्रतिरूप न स्वीकार कर, संवत्सर को यह स्थान दिया गया है। यहाँ प्राण को वात का प्रतिरूप माना गया है[5]। यह कथन ऋग्वैदिक विश्वास से भिन्न है। उपनिषदों में आत्मा के पारभौतिक[6] (Metaphysical) तथा भौतिक[7] (Physical) दोनों प्रकार के स्वरूपों का उल्लेख मिलता है।

1–10.16.3.

2-निरुक्त, पृ० 144; अ० वे०, 9.4.13.

3–Radha Krishnan, Indian Philosphy. I, p. 151.

4–दे० पाद टिप्पणी—अ० श्वसन-तन्त्र, इसी पुस्तक में।

5–बृ० उप०, 1.1.1.

6-बृ० उप०, 3.8.8.

7–छान्दो० उप०, 3.14.3; बृ० उप०, 5.6.1; श्वेता० उप०, 5.8.

आत्मा के पारभौतिक अस्तित्व को इंगित करते हुए क० उप० में इसको प्राण और अपान से परे एक अज्ञात शक्ति कहा गया है[8]। बृ० उप० में इसके पारभौतिकता का विस्तृत विवेचन किया गया है[9]। अन्यत्र इसे ब्रह्म की संज्ञा दी गयी है[10]। छान्दो० उप० में दो ब्रह्म का उल्लेख है। आत्मा के द्वैतवाद[11] (Dualism) का विकास यहीं से दृष्टिगत होता है। श्वेता० उप० (4.20) के अनुसार आत्मा ज्ञानेन्द्रियों के परे है[12]। यहाँ उल्लेखनीय है कि बाद के ग्रन्थों में आत्मा; प्राण[13], श्वास[14] और वात[15] से भिन्न प्रतीत होता है। आत्मा को अजर-अमर और नित्य माना जाने लगा जब कि शेष सभी नश्वर और अनित्य है[16]।

उपनिषदों में अनेकत्र आत्मा को नैसर्गिक उर्जा (Cosmic energy) माना गया है। यहाँ कथन है, जैसे काष्ठ में अग्नि है उसी प्रकार शरीर में आत्मा है[17]। निःसन्देह आत्मा सम्बन्धी यह विचारधारा आधुनिक वैज्ञानिक

8–क० उप०, 2.2.5.

9–बृ० उप०, 3.8.8; 3.7.14, 23.

10–बृ० उप०, 4.4.5.

11–छान्दो० उप०, 4.10.5.

12–श्वेता० उप०, 4.20.

13–न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ॥
क० उप०, 2.2.5.

14–चरक सू०, 19.4.

15–निरुक्त, पृ० 144.

16–ई० उप०, 8; गीता, 2.20–24.

17–वन्हेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः।
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्य स्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे॥
श्वेता० उप०, 1.1.13.

दृष्टि में उतकों के मेटाबालिक उर्जा (Metabolic energy) के समतुल्य है । सम्भवत: ऐमी ही उर्जा को इंगित करते हुए बृ० उप० में कहा गया है जबतक शरीर में यह विद्यमान है हृदय देश से उठने वाले घोष को सुना जा सकता है[18] ।
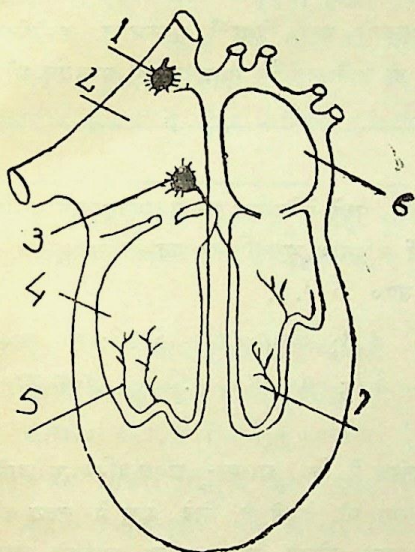
1,3—ग्रन्थि (Node),
हृद-मन्वीश
2, 6—हृदयाकाश (Auricular-space),
4-पुण्डरीक-वेश्म (Ventricles)
5—रश्मि (Nerves)

अगुष्ठमात्र: पुरुषो अन्तरात्मा सदा जननां हृदये संनिविष्ट: ।
हृदा मन्वीशो मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।।
श्वेता० उप०, 3.13.

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थय: ।
अथ मर्त्यो अमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ।।
क० उप०, 2.3.15; तु० मुण्ड० उप०, 2.2.8.

चित्र—13

18—बृ० उप०, 5.9.1.

ऐसा प्रतीत होता है, आत्मा के भौतिक अस्तित्व सम्बन्धी मत का प्रतिपादन तत्कालीन हृद-ज्ञानियों ने किया[19]। शरीर के मृत्यु का मूल कारण हृदय गति का रुकना है, इससे वे परिचित थे[20]। अतः मृत्यु के कारणों के अन्वेषणार्थ इसका सर्वेक्षण किया जाने लगा। आत्मा का निवास हृदय में है[21], ऐसे विश्वास ने इस अङ्ग के विच्छेदन[22] तथा अध्ययन करने की जिज्ञासा को और भी बलवती बना दिया[23]। सम्भवतः इसीलिए हृद-ज्ञान को ब्रह्म ज्ञान की संज्ञा दी जाने लगी[24] तथा इसके अध्ययन और

19-श्वेता० उप०, 3.13.

20-अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते तस्यैष घोषो भवति यमेतत् कर्णा वपिधाय शृणोति स यदोत्क्रमिष्यन् भवति नैनं घोषं शृणोति। बृ० उप०. 5.9.1.

21-छान्दो० उप०, 8.3.3; 3.14.3; श्वेता० उप०. 3.13; क० उप० 2.1.12-13; प्र० उप०, 3.6; मु० उप०. 2.2.7; चरक शा०, 1.73—78.

22-क० उप०, 2.3.17 में उल्लेख है कि, आत्मा; अंगुष्ठ-परिमाण वाले हृदय के मध्य स्थित है। आत्मा को देखने के लिये मुञ्ज से हृदय को बाहर निकाल कर षीक द्वारा च्छेदन कार्य करना चाहिये तथा पवित्र ज्ञान समझ कर इसकी उपासना करनी चाहिए। विच्छेदन सम्बन्धी ऐसा ही विवरण सुश्रुत शा० 5.61 में भी है। यहां शव (Cad ver) को मुञ्ज में लपेट कर रखने का निर्देश है तथा च्छेदन के लिये शलाके के प्रयोग का उल्लेख है।

23-हरिः ॐ अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥

छान्दो० उप०, 8.1.1.

24 छान्दो० उप०, 8.15.1; 8.1.1; बृ० उप०, 4.1.7.

अध्यापन का कार्य प्रारम्भ हुआ[25]। इस सन्दर्भ में वैदिक ऋषियों द्वारा किये गये शोध भी अद्भुत हैं। छान्दो० उप० में उल्लेख है, आत्मा का आकार धान, यव, तिल, श्यामक तथा सरसो (के बीज) के आकार-से छोटा है[26]। श्वेता० उप० में इसका आकार आरे के दांत के बराबर बताया गया है[27]। मुण्ड० उप० में इसकी रचना ग्रन्थि के आकार को इंगित है[28]। छान्दो० उप० में इसका वर्ण स्वर्ण की भाँति बताया गया है[29]। ऐसा ही विवरण दूसरे उपनिषदों में भी है[30]। इन तथ्यों से ऐसा प्रतीत होता है, तत्कालीन ऋषियों ने हृदय में स्थित तन्त्रकीय ग्रन्थियों का प्रत्यक्ष दर्शन

25–तं चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति सब्रूयात्।
छान्दो० उप०, 8.1.2.

26–एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वैष म आत्मान्तर्हृदये.........
छान्दो० उप०, 3.14.3; तु० अ० वे० 11.4.13; बृ० उप०, 5.6.1.

27–अंगुष्ठ मात्रो रवितुल्य रूपः संकल्पाहङ्कारसमन्वितो यः।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः॥
श्वेता० उप० 5.8.

28–मुण्ड० उप०, 2.2.8; क० उप०, 2.3.15.

29–अथ ये चास्येह जीवा ये च प्रेता यच्चान्यदिच्छन्न लभते सर्वं तदत्र गत्वा विन्दतेऽत्र ह्यस्यैते सत्याः कामा अनृतापिधानास्तद्यथापि हिरण्य निधिंनिहि तम क्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः॥
स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृद्यमिति तस्माद्धृदयमहरहर्वा एवं वित्स्वर्गं लोकमेति॥ छान्दो० उप०, 8.3.2-3.

30–बृ० उप०, 4.3.7; मुण्ड० उप०, 2.2.9.

किया[31] और उन्हें ही वे आत्मा की संज्ञा देने लगे। श्वेता० उप० में इसके स्नायु गुण (Nerve character) को निर्दिष्ट करते हुए मनसाभिक्लृप्तो हृद-मन्वाश की संज्ञा दी गयी है। किन्तु बाद में आत्मा सम्बन्धी नैसर्गिक सिद्धान्त के सम्मुख भौतिक सिद्धान्त लोक प्रिय नहीं हो सका। कारण, इसके भौतिक साक्षात्कार के लिये जीव हत्या अपरिहार्य था, जो कालान्तर में हेय दृष्टि से देखा जाने लगा।

31—मुण्ड० उप०, 2.2.8; क० उप०, 2.3.15;
साक्षात्कृत-धर्माण ऋषयो बभूवः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृत धर्मम्य उपदेशेन मन्त्रान सम्प्रादुः। निरुक्त, अ० 1 पृ० 57.
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ मुण्ड० उप०, 2.2.8.
यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम्॥ क० उप०, 2.3.15

श्वसन तन्त्र*

(RESPIRATORY SYSTEM)

वैदिक साहित्य में निम्नलिखित श्वसनांगों† के उल्लेख हुये हैं—दो नासाद्वार[1] (Nostrils) काकुदम[2] (Uvula) अन्तःतालु[3] (Inner-palate) कंठ एवं अधर कंठ[4] (Larynx), वाङ्नाड़ी[5] (Trachea) सहकंठिका[6] (Bronchus), ग्रीवा[7] (Gullet), गृणा[8] (Glottis)। इनके अतिरिक्त

---

* आयुर्वेद महासम्मेलन पत्रिका के अंक, जून १९७८ में प्रकाशित।

† श्वसन शब्द का उल्लेख ऋग्वेद (1.54.5) में मिलता है। यहां पर श्वसन का तात्पर्य शब्दकारी वायु से है। यास्क ने श्वसन शब्द की व्युत्पत्ति 'श्वा' धातु से बतायी है जिसका अर्थ तीव्र गति से दौड़ने वाला श्वान (निरुक्त पृ० 150) है। इसी आधार पर निरुक्त में मातरिश्वा (निरुक्त, पृ० 374) की व्याख्या अन्तरिक्ष में दौड़ने वाली वायु के रूप में की गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर में फुफ्फुस में गति करने वाली वायु को 'श्वास' तथा अन्तरिक्ष में गतिज वायु को 'मातरिश्वा' समझा जाने लगा।

1–ऋ० वे०, 10.163; अ० वे०, 10.2.6; 15.8.4.
2–अ० वे०, 9.7, तु० निरुक्त, पृ० 248.
3–तैत्ति० उप०, 1.6.1, 2.
4–वाज० सं०, 25.2.
5–अ० वे०, 5.18.8.
6–अ० वे०, 10.9.15.
7–ऋ० वे०, 4.40 दे० निरुक्त, पृ० 112, 603.
8–निरुक्त, पृ० 112, 113.

जत्रु[9], क्लोम[10], अनुवृजौ[11], कफोड़ौ[12], पुरीतत्[13], श्येनस्य-पत्रम्[14] कतिपय विशिष्ट शब्द हैं जो किसी श्वसनांग विशेष को इंगित करते हैं। कभी-कभी सम्पूर्ण श्वसन तन्त्र का उल्लेख पक्षी शरीर के रूप में किया गया है[15]। श्वेता० उप० में हृद-फुफ्फुसीय तन्त्र को प्रतीकात्मक रूप से 'हंस' कहा गया है[16]। बृ० उप० में इसे श्येन पक्षी बताया गया है[17] वाज० सं० में इस तन्त्र का उल्लेख दो पंखों से युक्त विशिष्ट अग्नि के रूप में मिलता है[18]। प्रायः ऐसा ही भाव श्वेता० उप० के अन्य मन्त्र में भी है[19]।

अ० वे० में शिर में सात छिद्र होने का उल्लेख है[20], जिसके द्वारा शारीरिक सम्बन्ध वाह्य वातावरण से है। कपाल में स्थित दो नासाद्वार छिद्रों की गणना इन्हीं सात रन्ध्रों के साथ की गई है[21]। नासाद्वार को

9–ऋ० वे०, 7.1.12; अ० वे०, 14.2.12.
10–अ० वे०, 2.33.3.
11–अ० वे०, 9.4.12; तु० अ० वे०, 7.53.5; अ० वे०, 9.4.11.
12–अ० वे०, 9.7.5; तु० 10.2.4; अ० वे०, 9.7.7.
13–अ० वे०, 10.9.15; 9.7.11.
14–वाज० सं० 19.86.1.
15–तु० चित्र 1 एवं 2, ना० उप०, 1 से 5 एवं ह० उप०, 15; वाज० सं०, 17.72; 18.52.
16–श्वेता० उप०, 3-18; तु० 4.6.
17–बृ० उप०, 4.3.19.
18–वाज० सं०, 17.72; 18.52; तु० हं० उप०, 15; ना० उप०, 1.5.
19–श्वेता० उप०, 6.15; तु० वाज सं०, 17.72; 18.52; अ० वे०, 10.2.11.
20–अ० वे०, 10.2.6; बृ०, उप० 2.2.3.
21–वही

प्राण[22] का निवास बताया गया है[23]। दूसरे प्रकरण में कहा गया है कि श्वास नासाद्वार छिद्रों द्वारा शरीर में वैसे ही प्रवेश करता है जैसे सांड गौओं के गोष्ठ में प्रवेश करता है[24]। एक दूसरे उद्धरण में कहा गया है कि प्राण शरीर के अन्दर हंस पक्षी की भांति गतिमान है[25]। छान्दो० उप० में स्पष्टत: मुख द्वारा श्वास ग्रहण करने का उल्लेख है[26]। तैत्ति० उप० में अप्रत्यक्ष रूप में युवुला (Uvula) का उल्लेख है[27]। इसकी रचना का वर्णन करते हुये कहा गया है कि यह अन्त: तालु में स्थित है तथा गले में स्त्री के स्तन की भांति लटकता रहता है[28]। कंठ[29] शब्द वास्तव में स्वर-यन्त्र (Larynx) का बोध करता है, क्योंकि वाणी की उत्पत्ति इसी स्थल से बतायी गयी है[30]। सायण ने इस शब्द की व्याख्या गृणा[31] के दृष्टान्त द्वारा की है। निरुक्त में उल्लिखित दृष्टान्त से ऐसा प्रतीत होता है कि, ध्वनिद्वार तथा निगलद्वार का विभेद स्पष्ट करने के लिए गृणा[32] और ग्रीवा[33] शब्दों का

22–ऋ० वे०, 7.53.2.

23–ऋ० वे०, 7.53.3.

24–ऋ० वे०, 7.53.5; 9.4.11.

25–ऋ० वे०, 11.4.21; तु० श्वेता० उप०, 3.18; 6.15, तु० ना० उप०, 1.5.

26–छान्दो० उप०, 1.3.3. शंकर की व्याख्या.

27–तैत्ति० उप०, 1.6.1.

28–अन्तरेण तालुके य एष स्तन इवावलम्बते, तैत्ति० उप०, 1.6.1–2.

29–वाज० सं०, 25.8.

30–तु० मॉनियर विलियम्स, आंग्ल संस्कृत कोश एवं सेन्ट-पीटर्सबर्ग आंग्ल संस्कृत कोश।

31–निरुक्त, पृ० 113.

32–वही

33–वही

फुफ्फुस धमनी (Pulmonary artery) तथा फुफ्फुस शिरा (Pulmonary vein)के (5+4=9) नवद्वार । इनके द्वारा पुण्डरीक (Cardium) का सम्पर्क फुफ्फुस (Lungs) के माध्यम से वायुमण्डल तक रहता है ।

I कंठ (Larynx), II जत्रु (Thyroid cartilage), III अवरकंठ (cricoid), IV वाङ् नाड़ी (Wind pipe), V सहकंठिका (Bronchus), VI फुफ्फुस (Left Lung), VII क्लोम-विदर (Fissure of lung lobules), VIII सहकंठिका के कट (Cuts of bronchus), IX क्लोम (Lung lobules), X पुण्डरीक (Heart) →

प्रयोग होता था । वाङ्नाड़ी शब्द से श्वास प्रणाली (Trachea or wind-pipe) का बोध होता है[34] । वाङ् या या वाक् शब्द वास्तव में ध्वनि का बोधक[35] है । नाड़ी शब्द का तात्पर्य नरकुल या बांस की फोफी से है[36], जिसकी रचना वाङ्नाड़ी के अनुरूप होती है । सहकंठिका का अर्थ सहायक ध्वनि उत्पादी अंग है । यह ब्राकंस(Bronchus)के लिए प्रयुक्त हुआ है । जत्रु[37] शब्द भी श्वसनांग से सम्बन्धित कोई अंग प्रतीत होता है । चरक और सुश्रुत इसकी व्याख्या भिन्न प्रकार से करते हैं । चरक के अनुसार जत्रु का निर्माण दो अस्थियों के मिलने से हुआ है[38] । सुश्रुत इसे कंठनाड़ी की संज्ञा देते हैं और इसके चार अस्थियों द्वारा निर्मित होने का वर्णन करते हैं[39] । हार्नले ने जत्रु को विन्डपाइप कहा है, किन्तु विस्तृत विवेचना करते हुये वे ग्रीवा, वक्ष एवं श्वासनलिका की अस्थियों को भी जत्रु के अन्तर्गत ही रखते हैं[40] ।

34–अ० वे०, 5.18.8, तु० कंठ० नाड़ी, सुश्रुत शा०, 5.21.
35–मैक० एवं कीथ, वैदिक इण्डेक्स.
36–वही
37–ऋ० वे०, 7.1.12; अ० वे०, 14.2.12; वाज० सं०, 25.8.
38–चरक शा०, 7.6.
39–सुश्रुत शा०, 5.21.
40–Hornle, J. R. A. S. 1907.
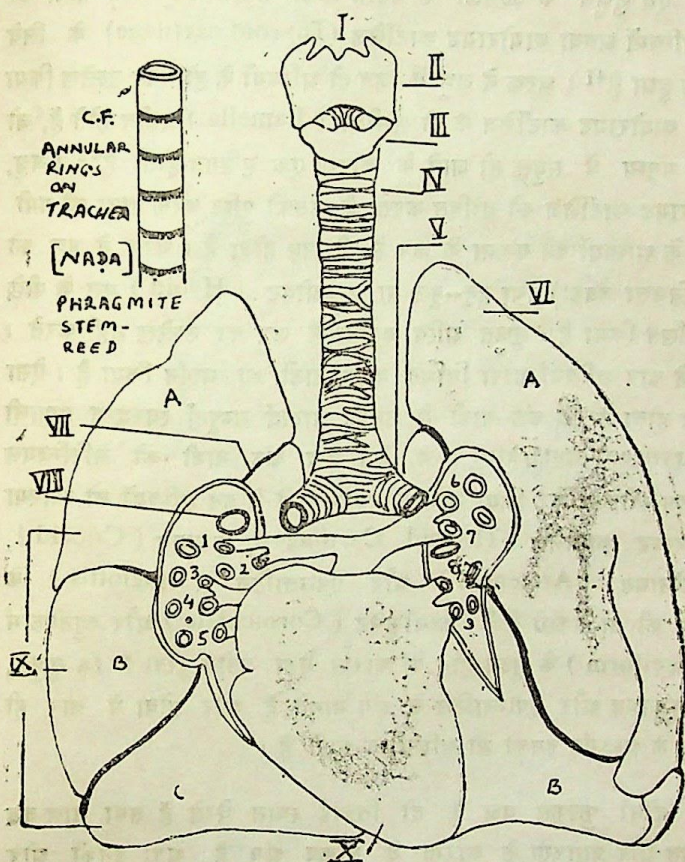
चित्र-14

पुण्डरीक नव द्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् ।
तस्मिन् यद यक्षमात्मन्वत् तद वै ब्रह्मविदोविदुः ।।

अ० वे०, 10.8.43; तु० श्वेता० उप०, 3.18.

तु० चित्र 1, 2 एवं 18, 19.

चरक एवं सुश्रुत के उल्लेखों से प्रतीत होता है कि जत्रु शब्द ग्रीवा की तरुणास्थियों अथवा थायोरायड कार्टीलेज (Thyroid cartilage) के लिये प्रयुक्त हुआ है[41]। चरक ने जत्रु में जिन दो अस्थियों के होने का उल्लेख किया है, वे थायोरायड कार्टीलेज के दो लैमीला (Lamella) प्रतीत होते हैं, जो वयस्क मनुष्य में संयुक्त हो जाने के कारण एक दृष्टिगत होती है[42]। जत्रु, थायोरायड कार्टीलेज को बोधित करता है, इसकी पुष्टि चरक द्वारा की गयी ग्रीवा के अस्थियों की गणना के क्रम से भी स्पष्ट होता है। चरक ने जत्रु को हनु (निचला जबड़ा) तथा हनु-मूल या हायग्रोयड (Hyoid) मूल के पीछे उल्लिखित किया है। सुश्रुत अस्थि गणना में जत्रु का उल्लेख नहीं करते। उन्होंने चार अस्थियों द्वारा निर्मित कण्ठ नाड़ी का वर्णन किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि कंठ-नाड़ी से उनका तात्पर्य सम्पूर्ण स्वरयन्त्र प्रणाली (Laryngeal apparatus) से है। यदि कंठ नाड़ी को लेरिन्जियल अपरेटस स्वीकार कर लिया जाय तो कंठ-नाड़ी के इन अस्थियों की व्याख्या थायोरायड कार्टीलेज (Thyroid Cartilage), क्रूकायड (Cricoid), एरीटीनायड (Aretenoid) और एपीग्लाटिस (Epiglottis) के रूप में की जा सकती है[43]। कार्नीकुलेट (Corniculate) और क्युनीफार्म (Cuneiform) के सूक्ष्म होने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि सुश्रुत, इन्हें क्रूकायड और एपीग्लाटिस के अंग मानते हैं और ग्रीवा में चार ही अस्थि के अन्तर्गत इनको भी सम्मिलित करते हैं।

दोनों फुफ्फुस वक्ष के दो तिहाई स्थान घेरते हैं तथा ताल-बद्ध संकुचन और प्रसारण के कारण ये सक्रिय अंग है, अतः इनकी ओर वैदिक विच्छेदकों के ध्यान आकर्षित होने की अपेक्षा की जाती है। किन्तु यह दुर्भाग्यपूर्ण तथ्य है कि, वैदिक आर्यों ने किन शब्दों द्वारा फेफड़ों

41-चरक० शा०,7.6, तु० सुश्रुत शा०, 5.21.
42-दे० चित्र, 15.
43-दे० चित्र, 15.
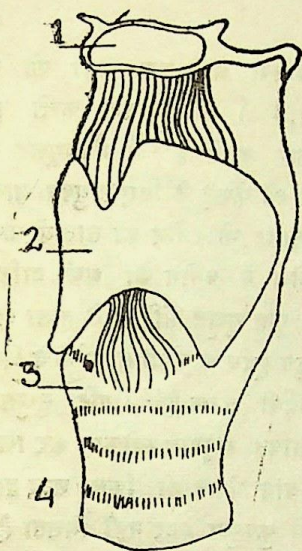
1–गृणा (Epiglottis),
2–जत्रु (Thyroid cartilage),
3–अधर-कंठ (Cricoid),
4–वाङ्-नाड़ी (Tracheal or wind pipe)

चित्र—15
जत्रु एवं कंठ अग्र दृश्य
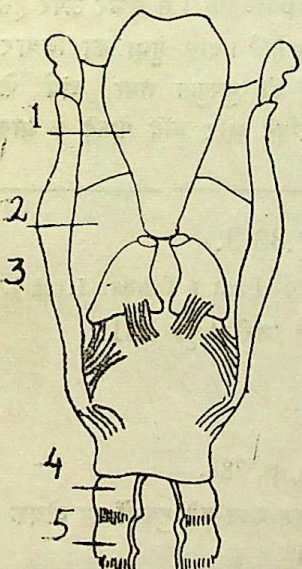
1–गृणा (Epiglottis),
2–जत्रु (Thyroid cartilage),
3–कार्नीकुलेट (Cornlculate),
4–अधर-कंठ (Cricoid),
5–वाङ्–नाड़ी (Tracheal or wind pipe)

चित्र—16
जत्रु एवं कंठ पश्च दृश्य

की अभिव्यक्ति की है इसकी निश्चित व्याख्या अभी तक नहीं की जा सकी है। व्हिटने अथर्ववेद (2.33.3) की व्याख्या करते हुए क्लोम शब्द को फुफ्फुस का द्योतक स्वीकार करते हैं[44]। मैक्समूलर भी बृ० उप०, (1.1.1) के अनुवाद में क्लोम को फेफड़े के लिए प्रयुक्त मानते हैं[45]। वैदिक इण्डेक्स के लेखक द्वय के अनुसार भी क्लोम का तात्पर्य फेफड़े से है[46]। मॉनियर विलियम्स ने अपने कोश में क्लोम का अर्थ दाहिना फेफड़ा बताया है। मॉनियर विलियम्स की पुष्टि सुश्रुत संहिता से होती है। सुश्रुत संहिता के अनुसार प्लीहा और फुफ्फुस हृदय के बांयी तरफ नीचे स्थित है और यकृत तथा क्लोम हृदय के दाहिनी तरफ है[47]। यदि सुश्रुत के आधार पर मॉनियर विलियम्स द्वारा प्रस्तावित अनुवाद स्वीकार कर लिया जाय तो प्रश्न उठता है कि, वैदिक ऋषि बांये फेफड़े को किस शब्द द्वारा इंगित करते थे, क्योंकि वैदिक साहित्य में फुफ्फुस शब्द नहीं मिलता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि फेफड़े हृदय के नीचले भाग ही में सीमित नहीं होते बल्कि ये नीचे महाप्रचोरापेशी (Diaphragm) से लेकर ऊपर हंसली की अस्थि (Clavicle) तक विस्तृत होते हैं[48]। दास गुप्ता का विचार है कि, सम्भवतः सुश्रुत ने बांयें फेफड़े को फुफ्फुस तथा दांयें फेफड़े को क्लोम द्वारा इंगित किया है[49]। दाहिने और बांये फेफड़े के आकार

44--व्हिटने, अंग्रेजी अनुवाद, अथर्ववेद 2.33.3.

45–Max. Muller—Sacred Books of East (Trans. 1.1.1).

46–मैक० एवं कीथ, वैदिक इण्डेक्स दे० 'शरीर' पृ० 361.

47–सुश्रुत शा०, 4.30.

48–Gray's Anatomy, p. 1191.

49–Dasgupta—Indian Philosphy, p. 288.

तु० 'कलम' पर्सियन कोश–यहाँ कलम शब्द कटे टुकड़ों का बोधक है। फेफड़े भी कई टुकड़ों में बंटे होते हैं।
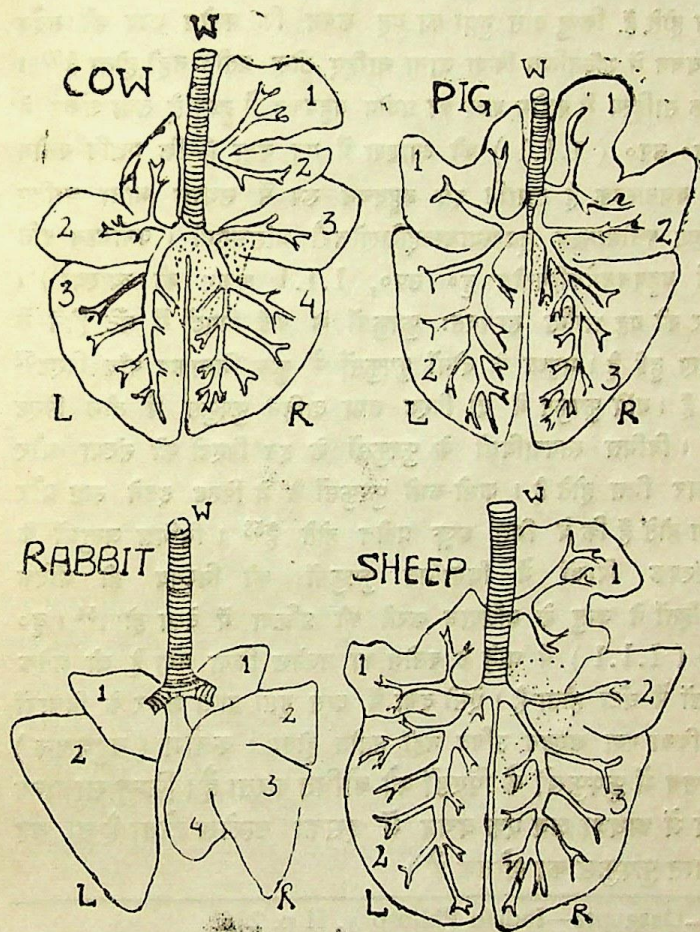
चित्र—17

विभिन्न स्तनपायियों के खंडित फुफ्फुसीय-पिंड,

(Lung-lobes) क्लोम

और रचना में विभेद होता है। इस आधार पर दास गुप्ता के विचार ठीक प्रतीत होते हैं, किन्तु दास गुप्ता का यह कथन कि क्लोम शब्द को सदैव एक वचन में उल्लिखित किया जाना चाहिए ठीक प्रतीत नहीं होता है[50]। वैदिक साहित्य में क्लोम शब्द का प्रयोग बहुवचन में हुआ है तथा शंकर ने भी बृ० उप० (1.1.1) की व्याख्या में यह कहा है कि यद्यपि क्लोम एक वचनात्मक है तथापि इसे बहुवचन रूप में समझा जाना चाहिए (यकृच्च क्लोमानश्च हृदयस्याधस्तद्दक्षिणोत्तरौ मांसखण्डौ। क्लोमान इति नित्यं बहुवचनमेकस्मिन्नेव बृ० उप०, 1.1.1 शंकर की व्याख्या)। शंकर की यह भ्रान्ति सम्भवतः फुफ्फुसों के कई पिण्डों में बंटे होने के कारण हुई है। मनुष्य के दोनों फुफ्फुसों में कुल मिलाकर पाँच पिण्ड[51] होते हैं। बांये फुफ्फुस में दो पिण्ड तथा दाहिने फुफ्फुस में तीन पिण्ड हैं[52]। विभिन्न स्तनपायिओं के फुफ्फुसों के इन पिण्डों की संख्या और आकार भिन्न होते है। कभी-कभी फुफ्फुसों के ये पिण्ड इतने स्पष्ट और अलग होतें हैं कि वे भिन्न अङ्ग प्रतीत होते हैं[53]। विभिन्न जन्तुओं के बहुसंख्यक पिण्डों में विभाजित फुफ्फुसों को निश्चय ही वैदिक पुरोहितों ने जन्तु के बलिदान करने की प्रक्रिया में देखा होगा[54]। बृ० उप० (1.1.1) में घोड़े के क्लोम का उल्लेख किया गया है, जो अनेक पिण्डों में बंटा होता है। ऐसी दशा में दास गुप्ता द्वारा शंकर के विचारों का किया गया खण्डन उचित नहीं प्रतीत होता। क्लोम (बहुवचन) वास्तव में फुफ्फुसों के पिण्डों को बोधित करता है। किन्तु सामान्य अर्थ में अथवा जब एक वचन में इसका उल्लेख होता है तो यह समस्त फुफ्फुस का द्योतक है।

50–Dasgupta—Indian Philosphy, II p. 236.
51–Gray's Anatomy, p. 1189.
52–वही।
53–तु० फुफ्फुस की रचना–गाय, खरगोश, सूअर, भेंड़ व घोड़ा चित्र 17
54–वाज सं०, 19.39.

वाज० सं० (19.85–86) में वक्ष और अधोवक्ष अंगों का अलंकारिक वर्णन है[55]। यहां 'यकृत क्लोम' तथा 'प्लीहा श्येनस्य-पत्रम्' अलग क्रम में उद्धरित है[56]। उपर्युक्त वर्णन में क्लोम दक्षिण फेफड़े के लिए प्रयुक्त प्रतीत होता है 'श्येनस्य पत्रम्' वाम फेफड़े को इंगित करता है[57]। ऐसा प्रतीत होता है कि सुश्रुत (शा०, 4.30) ने हृदय के दाये भाग में यकृत और क्लोम तथा बाँये भाग में प्लीहा और फुफ्फुस के स्थित होने का विचार वाज०सं०(19.85, 86) से ही ग्रहण किया। वाज० सं० में फेफड़े के लिए 'श्येनस्य पत्रम्' का उल्लेख बड़ा सटीक है। फेफड़े का आकार उड़ते हुए पक्षी के पंख के समान होता है। वैदिक साहित्य में अनेकत्र हृद फुफ्फुसीय तन्त्र (Cardio Respiratory System) को पक्षियों की उपमा द्वारा व्यक्त किया गया है। बृ० उप (4.3.19) में सम्पूर्ण हृद-फुफ्फुसीय अंग एक उड़ते श्येन पक्षी के रूप में निर्दिष्ट है।

यहां उल्लेखनीय है कि हृद–फुफ्फुसीय तन्त्र की आकारिकी (Morphology) तथा कार्यकी (Physiology) उड़ते पक्षी के समतुल्य है। यदि हृद–फुफ्फुसीय तन्त्र को सावधानी से बाहर निकाल लिया जाय और इसकी समता किसी लम्बी ग्रीवा वाले पक्षी से की जाय तो उसके

55–इन्द्रः सुमात्रा हृदयेन सत्यं पुरोडाशेन सविता जजान।
यकृत् क्लोमानं वरुणो भिषज्यन् मतस्ने वायव्यैर्न मिनाति पित्तम्॥
आन्त्राणि स्थायीर्मधु पिन्वमाना गुदाः पात्राणि सुदुघा न धेनु।
श्येनस्य पत्रं न प्लीहा शचीभिरासन्दी नाभिरुदरं न माता॥
वाज० सं०, 19.85–86.

56–तु० सुश्रुत शा०, 5.21.

57–दास गुप्ता, अपनी पुस्तक 'इण्डियन फिलासफी' पृ० 288 में क्लोम को हृदय के बांये भाग में स्थित होने का उल्लेख करते है। यह कथन सुश्रुत शा०, 4.30 के विरुद्ध है।
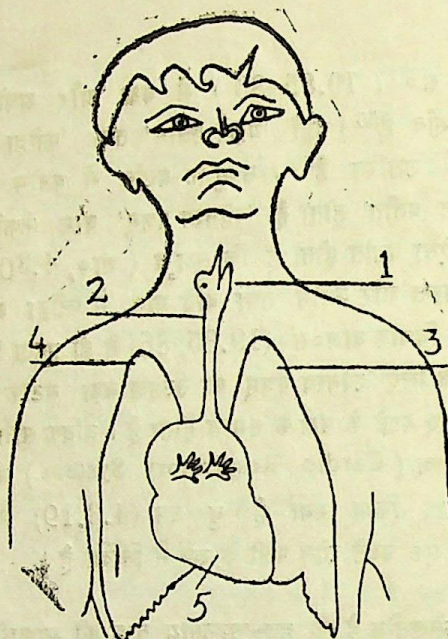
चित्र--18 हृय फुफ्फुसीय तन्त्र का रूपक 'हंस'
तु० चित्र 1, 2 एवं 19.

1, 2—मस्तकम् (Larynx and wind pipe), 3—उत्तर पक्ष (Left lung), 4—दक्षिण पक्ष (Right lung), 5—पुच्छ (Heart-body).

अकारो दक्षिणः पक्ष उकारस्तूत्तरः स्मृतः ।
मकार पुच्छमित्याक्षरधंमात्रा तु मस्तकम् ॥

तु० ना० उप०, 1.5.

षट् संख्यया अहोरात्रयोरेक विशंति सहस्राणि षट्छतायन्यधिकानि भवन्ति..........अग्निषोमो पक्षावोंकारः शिरं उकारो बिन्दुस्त्रिनेत्रं मुखं रुद्रो रुद्राणि चरणौ द्विविध कण्ठतः कुर्नादित्युमनाः अजयोपसंहार इत्यमिधीयते ।

हं० उप०, 14.15.

दे० पृ० 2; पाद टिप्पणी 24.
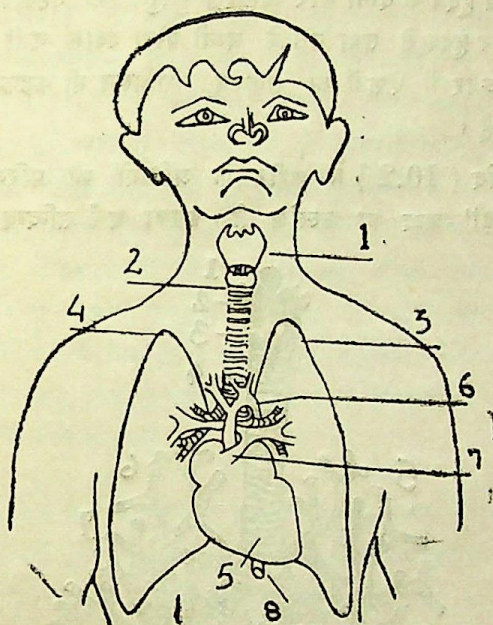
चित्र—19 हृद-फुफ्फुसीय तन्त्र वैदिक शब्दों में

1–जत्रु (Thyroid cartilage), 2–कण्ठ (Larynx), 3–फुफ्फुस (Right-lung), 4–क्लोम (Group of left-lung lobules), 5-पुण्डरीक (Cardium), 6–विराट् नाड़ी (Aortic-aorta), 7–इन्व नाड़ी (Pulmonary-aorta), 8–पृष्ठ विराट् नाड़ी (Dorsal aorta).

एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्नि सलिले संनिविष्टः ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्याः पन्था विद्यते ऽयनाय ॥

श्वेता० उप०, 6.15.

दोनों फैले पंख हृदय के दोनों ओर विस्तीर्ण फुफ्फुस के सदृश दिखाई देगें। पक्षी का शरीर हृदय से तथा उसकी लम्बी ग्रीवा श्वास नली से तुलनीय है[58]। वक्ष पञ्जर में फेफड़ों का संकुचन, शिथिलन भी फड़फड़ाते पक्षी के समान होता है।

अथर्ववेद (10.2) में शरीर के अस्थियों की परिगणना करते समय 'कफोड़ौ' शब्द का उल्लेख है। इसका अर्थ सन्दिग्ध है। ध्वनि-

चित्र—20 कफोड़ौ
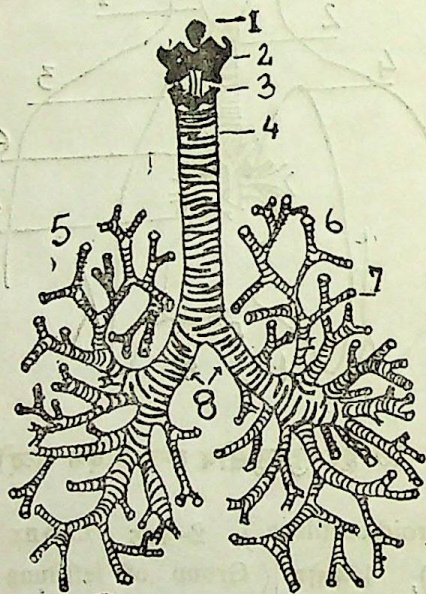
1–कंठ (Larynx), 2–जत्रु (Thyroid), 3–अधर-कंठ (Cricoid), 4–वाङ् नाड़ी (Tracheal pipe), 5–दाँया कफोड़ (Right broncheal net), 6–बाँया कफोड़ (Left broncheal net), 7–फुफ्फुस (Left lung), 8-सह कंठिका (Bronchus).

58–वृक्ष के तनों में पाये जाने वाले खोखले स्थान को, जिसमें प्राय: पक्षी

साम्यता की दृष्टि से यह शब्द बाद के आयुर्वेदीय संहिताओं में वर्णित फुप्फुस शब्द के समान है, किन्तु इसका उल्लेख अस्थियों की परिगणना के साथ होने के कारण हार्नले इसकी व्याख्या अंश-फलकों (Scapular-blade) के रूप में करते हैं। किन्तु यहां यह तथ्य विचारणीय है कि अंश फलकों के लिये वैदिक संहिताओं एवं आयुर्वेदिक ग्रन्थों में 'अंसौ' या 'अंश-फलकौ' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। यह शब्द अथर्ववेद के उक्त सूक्त में भी हैं। ऐसी दशा में सम्भव है कि कफोड़ौ शब्द दोनों फुप्फुसों को ही बोधित करता हो। पुनश्च फुप्फुसों का भी अधिकांश भाग ब्रांकिओल्स (Bronchioles) के विस्तार के कारण मृदु अस्थियों (Cartilage) का बना होता है। यहां यह भी कथनीय है कि दोनों फुप्फुसों की स्थित ठीक अंश-फलकों के नीचे होती है।

वैदिक इण्डेक्स में पुरीतत्[59] की व्याख्या पेरीकार्डियम (Pericardium) के रूप में की गयो है। किन्तु पुरीतत् वास्तव में फुफ्फुसावरण (Pleura) का द्योतक है। क्योंकि वैदिक साहित्य में पेरीकार्डियम के लिए वपा शब्द का प्रयोग किया गया है। चरक ने भी ऐसा ही उल्लेख किया

निवास करते हैं; संस्कृत कोशों में क्रोड की संज्ञा दी गई है। ऋ० वे० (9.7.5) में श्येन और क्रोड पर आधारित एक अन्योक्ति है। उपरोक्त प्रकरण में क्रोड वक्ष पञ्जर का प्रतीक है और श्येन हृद–फुप्फुसीय तन्त्र के लिये निर्दिष्ट है। यहां यह उद्धरणीय है कि प्राचीन शरीर-विज्ञान में अनेक शरीर अंगों के नामकरण इसी प्रकार जन्तुओं के स्वभाव एवं गति के आधार पर किये गये हैं। तु० 'मसल्स' (Muscles) या मांस जिसकी शब्द व्युत्पत्ति 'माउस' (Mouse) या मूस से हुई है। यह व्युत्पत्ति त्वचा के नीचे पेशियों के मूस की भांति गति करने के कारण हुई है।

59–मैक० एवं कीथ, वैदिक इण्डेक्स 'शरीर', पृ० 361.

है और पेरीकार्डियम को 'वपावहन'[60] की संज्ञा दी है। फुफ्फुसावरण हृदय के पृष्ठ और पार्श्व भागों को आच्छादित किये रहते हैं[61]। वैदिक साहित्य में हृदय की तुलना कमल कलिका से की गई है; ऐसी दशा में फुफ्फुसों के पिण्ड संलग्न पत्तियों के समान हैं। संभवतः काश्यप और सुश्रुत ने इसी आधार पर फेफड़ों को फुफ्फुस की संज्ञा दी है। इस सन्दर्भ में पुत्फुस[62] शब्द विचारणीय है जिसका अर्थ कमलपत्र होता है। इस
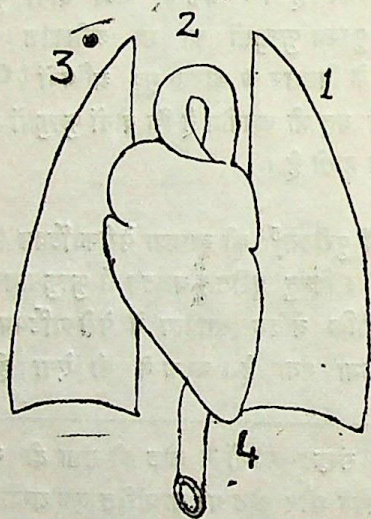
चित्र—21 हृद-फुफ्फुसीय अङ्गों की रूप-रेखा

1–बांया पुत्फुस (=फुफ्फुस या Left lung), 2–विराट नाड़ी (Aortic aorta), 3–दांया पुत्फुस (फुफ्फुस=क्लोम या Right lung), 4–पुण्डरीक (Cardium).

60–चरक शरीर, 7.12

61–सायण

62–शब्द-कल्पद्रुम, संस्कृत कोश.
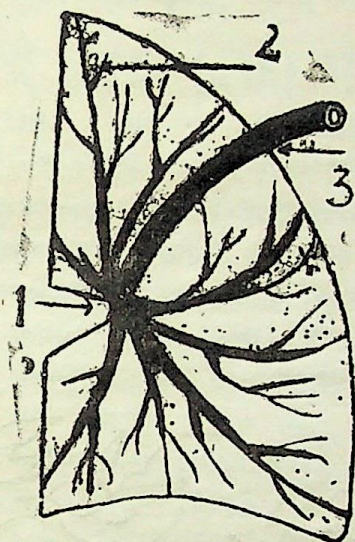
चित्र—22 फुप्फुसीय अङ्ग की रूप-रेखा
तु० संलग्न चित्र में कमल पत्र के वाहिनी उतक ।

1–हायलम (Hilum), 2–शिराये (Net of blood capillaries), 3–फुप्फुसीय रक्तवाहिनी (Primary vessel to lung).

आधार पर सुश्रुत संहिता में प्रयुक्त फुप्फुस शब्द तथा वैदिक साहित्य में आये पुरीतत् एक ही शब्द के व्युत्पन्न प्रतीत होते हैं । सायण की व्याख्या से पुरीतत् महत्वपूर्ण अंग प्रतीत होता है । इसे स्तोम-भाग पुरीतत् की संज्ञा दी गई है । इस उल्लेख से भी पुरीतत् फेफड़ों के लिए प्रयुक्त शब्द प्रतीत होता है, क्योंकि यह जीवन के लिये पेरीकार्डियम की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण अंग है ।

हृद-फुफ्फुसीय कार्यकी एवं मण्डलवत द्विअध्वीय रस* (रक्त) संचरण

THE PHYSIOLOGY OF CARDIORESPIRATORY SYSTEM AND CLOSED DOUBLE CIRCULATION

उपनिषदों में ब्रह्म के दो रूप अमूर्त (Subjective) तथा मूर्त (objective) बताये गये हैं[1]। अन्तरिक्ष[2] या आकाश[3] ब्रह्म का अमूर्त[4] रूप है। पुरुष[5] या मण्डल-पुरुष[6] या मण्डल[7] या हृद[8] इसका मूर्त रूप हैं। मूर्त रूप द्रष्ट है अतः अनेकत्र इसे चाक्षुष भी कहा गया है[9]। ऐसा पुरुष शरीर में वायु आत्मा या प्राण का अधिपति (बृ० उप०, 2.5.15) है अतः इसे अधिदैवत (बृ० उप०, 2.3.3) भी कहा गया है। हृद, पुरुष, मण्डल या मण्डल-पुरुष का तात्पर्य यहाँ हृद-फुफ्फुसीय रस परिवहन मण्डल (cardio respiratory vascular system) से है। ऐसा मण्डल या पुरुष; युग्म (Paird) है[10]। इसके दोनों अक्ष एक दूसरे में संस्ताव[11] (septum) द्वारा प्रतिष्ठित[12]

---

* बृ० उप०, 3.9.2; 2.3.5 में रस को रस का पर्याय माना गया है।

1–बृ० उप०, 2.3.1.
2– ,, 2.3.2.
3– ,, 2.3.4.
4. बृ० उप०, 2.3.1–2.
5–देखिये 'हृदय की सामान्य रचना' पृ०, 2 इसी पुस्तक में।
6–बृ० उप०, 2.3.3; 5.5.2; 5.5.3.
7– ,, 5.5.2.
8– ,, 5.3.1; 4.1.7.
9– ,, 2.3.4; 2.5.5; 4.4.18.
10– ,, 5.5.2; 4.2.2-3.
11– ,, 4.2.2-3.
12– ,, 5.5.2.

हैं। अन्तरिक्ष एवं वायु इसमें निरन्तर (continuous) है[13]। ऐसा पुरुष शरीर में रस को यह यत् त्यत् (बृ०उप०, 2.3.) करता है तथा आहार[14] या अन्न[15] का सञ्चार[16] या पचय[17] करता है। अन्यत्र वायु[18], प्राण[19] अथवा आत्मा[20] के भी सञ्चरण[21] इसके द्वारा समान[22] विधि (Rhythmic action) द्वारा किये जाने का दृष्टान्त है। हिता से निकलने वाली नाड़ियाँ (vessels) केश के सहस्त्रांश भाग की भाँति सूक्ष्म होकर लोक[23] (शरीर के विविध भाग) में यथानुसार शुक्ल, नील, पीत, हरित, लाल वर्ण धारण कर विस्तृत है[24]। इसमें प्राण दौड़ते[25] (ध्यायति) हुए सञ्चरण एवं लीला[26] (Display) करता है। उपरोक्त

13–बृ० उप०, 2.3.2; 3.2.13 में इसे आकाश तथा छान्दो० उप०, 3.12.9 में हृदयाकाश कहा गया है। बृ० उप०, 5.1.1 में ऐसे आकाश को जिसमें वायु रहता है खं की संज्ञा दी गयी है।

14– „ 4.2.3.

15– „ 5.9.1.

16– „ 4.2.3; 4.3.7.

17– „ 5.9.1.

18– „ 2.3.3.

19– „ 2.3.5; 5.5.2.

20– „ 4.3.7.

21– „ 4.3.7.

22– „ 4.3.7.

23– „ 4.3.20; 4.37.

24– „ 4.3.20.

25– „ 4.3..7

26– „ „

उपनिषदों में अनेकत्र शरीर के अङ्गों की कार्यकी के सन्दर्भ में विचित्र

उद्धरण में सञ्चरण शब्द से रस परिवहन का बोध होता है। अन्न और वायु शब्द क्रमशः रस में मिश्रित भोज्य तथा वायु के द्योतक हैं। आत्मा[27], प्राण[28] या ब्रह्म[29] इनके संश्लेषित रूप को ही इंगित करते हैं। अन्यत्र अष्ट-प्राण के कारण शरीर में ताप के प्रतिष्ठित होने का उल्लेख है[30]। ऐसे तापक्रम को दूसरे स्थलों पर प्राणाग्नि या गार्हपत्य अग्नि की भी संज्ञा दी गयी है[31]।

पुरुष को ही शरीर में ऐसे अग्नि का पचय करने वाला कहा गया है[32]। उत्क्रमण के समय पुरुष-घोष (हृद-घोष) तथा वैश्वानर अग्नि विलुप्त हो जाते हैं[33]। ऐसे समय में प्राण रथचक्र, लम्बर पुनः दुन्दुभी आकार वाले खं (छिद्र) से होकर वायु में शाश्वत हो जाता है[34]।

दृष्टान्त मिलते हैं। यथा जोंक (बृ० उप०, 4.3.3) के समान संकुचित तथा शिथिल होकर गति करने का तथा हाथी द्वारा खदेड़ने पर तीव्रता पूर्वक दौड़ने (4.3.20) और गिरने का वृतान्त आदि। धमनियों में संकुचन–शिथिलन क्रिया प्रायः जोंक के प्रचलन गति के समान प्रतीत होती है। सम्भवतः हाथी द्वारा खदेड़ने पर तीव्रता पूर्वक भगने का तात्पर्य रक्त के दौड़ने से है। बृ० उप०, 4.3.7 में सम्भवतः ऐसी क्रिया को ही 'लीला' की संज्ञा दी है। ऐसा प्रतीत होता है। इन दृष्टान्तों को ऋषियों ने विषय वस्तु को सुबोध बनाने के लिये शिष्यों के प्रति कहा है। सजीव पशु के विच्छेदन करने पर शरीर अङ्गों की ऐसी लीला का साक्षात्कार किया जा सकता है।

27–बृ० उप०, 4.3.7.
28– ,, 2.3.3–5.
29– ,, 5.12.1.
30– ,, 5.14.3; 2.3.3; 2.5.
31–प्र० उप०, 1.7; 2.5; 4.3.
32–बृ० उप०, 5.9.1. तु० ऋ० वे०, 10.16.3.
33–वही
34–बृ० उप०, 5.10.1

पुरुष के दो अक्ष तथा युग्मवत इन्ध तथा इन्द्र नाड़ियों (बृ० उप०, 4.2.2–3) के वर्णन से द्विअक्षीय रक्त परिवहन (Double circulation) सम्बन्धी विचारधारा से वैदिक हृद मन्वीश अवगत प्रतीत होते हैं। पुरुष के विविध भागों की रक्त नाड़ियाँ हृदय (रूपी रथ चक्र) की नाभि में आवृत है[35]। दूसरे शब्दों में हृदय से निकलने के उपरान्त समस्त शरीर का चक्र पूर्ण कर पुनः हृदय में ही खुलती है। ऐसे परिवहन को बन्द रक्त परिवहन तन्त्र (closed vascular system) कहते हैं। वैदिक ग्रन्थ इस तथ्य को पुरुष-रस मण्डल की संज्ञा देते हुए प्रतीत होते हैं[36]।

हृदय के पम्पवत् कार्यकी को इंगित करते हुए बृ० उप०, 5.3 में कहा गया है कि यह हृदय है क्योंकि यह, हृ=धारण करता है; द=देता है; यम=युग्म[37] है। उद्धरणीय है कि हृदय शरीर में ऐसा ही कार्य करता है। यह युग्म पम्पों के संयुक्त होने से बना है। एक पम्प द्वारा यह शरीर के रस को धारण करता है तथा दूसरे पम्प द्वारा शरीर के विविध भागों को प्रदत्त करता है। बृ० उप०, 2.3.5 में उल्लेख है कि दक्षिण अक्ष द्वारा हृदय रस को त्यत करता है[38] निश्चय ही इस कथन का आशय हृदय के दक्षिण अक्ष या पम्प द्वारा शोधनार्थ रस को फेफड़ों में प्रेषित करने से है जहाँ से वायु फेफड़ों से बाहर जाता है। हृदय के वाम अक्ष का रक्त इन्द्र नाड़ी (बृ० उप०, 4.2.2-4) द्वारा पुरुष के विविध भागों में सञ्चरित (बृ० उप०, 4.3.7) होता है। ऐसी दशा में यत-रस[39] का तात्पर्य हृदय के वाम अक्ष का रक्त हो सकता है। उद्धरणीय है कि हृदय

35–बृ० उप० 2.5.15; मु० उप०, 2.2.6; क० उप०, 1.3.3; प्र० उप० 2.6; 6.5-6.

36–बृ० उप०, 2.3.8; 5.5.2; 5.5.3.

37–यास्क के अनुसार 'यम' शब्द युग्म का द्योतक है।
निरुक्त, 14.7, पृ० 603.

38–बृ० उप०, 2.3.5.

39–वहीं

के वाम अक्ष का रक्त आक्सीजन मिश्रित होने से चटक लाल होता है तथा इस अक्ष की एओरटिम धमनी में रक्त तीव्रता से दौड़ता है। सम्भवत: बृ० उप०, 4.3.7 में इसी तथ्य को इंगित करने के लिए 'ज्योतिः पुरुषः' एवं 'ध्यायतीव' शब्दों के प्रयोग हुए हैं।

छान्दो० उप०, 3.7 में हृदय-ज्ञान के सम्बन्ध में ही इसके उदय-अस्त का उल्लेख मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है यहाँ उदय का तात्पर्य हृद पेशियों के शिथिलन (Relaxation) से है जिसके परिणामस्वरूप हृदय उदित होता हुआ प्रतीत होता है तथा अस्त का तात्पर्य इसके संकुचन (contraction) से है। इसके उदय-अस्त क्रिया की जो काल गणना यहाँ प्रस्तुत की गई है वह विद्युत हृत लेखी द्वारा की गयी काल गणना के प्राय: अनुरूप है[40]। यहाँ उल्लेख है जबतक आदित्य पूर्व से उदित होता है और पश्चिम में अस्त होता है उससे दुगुने समय तक वह दक्षिण से उदित होता है और उत्तर में अस्त होता है। पुन: इतने समय पर्यन्त ही वह रुद्रों के अधिपत्य एवं स्वराज्य को प्राप्त होता है। हृद पेशियों में संकोच की दो दिशायें पायी जाती हैं। आलिन्दों के संकोच वाम अक्ष में स्थित सिनो-आरीम्युलर ग्रन्थि से प्रारम्भ होता है। यह संकोच दोनों आलिन्दों तक सिमित रहता है। निलय में संकोच सिनोआरीक्युलर ग्रन्थि से प्रारम्भ होता है। यह संकुचन निलय पेशियों में ही सिमित रहता है। ऐसा प्रतीत

40–स्वस्थ्य व्यक्ति में जिसका हृदय साधारणतया एक मिनट में 70 से 80 बार धड़कता है, हृद क्रिया का एक चक्र 0.9 सेकण्ड में पूर्ण होता है : 0.1 सेकण्ड से 0.12 सेकण्ड आलिन्दों के संकुचन (systole) में समय लगता है। तत्पश्चात् 0.06 सेकण्ड से 0.1 सेकण्ड तक यथास्थिति बनी रहती है। ऐसे मध्यान्तर में रक्त प्रवाह द्वारा प्रेरणा (impulse) निलय में पहुँचता है। इसके उपरान्त 0.3 सेकण्ड का समय निलय के संकुचन (systole) में लगता है। इस बीच आलिन्द पूर्ववत शिथिल हो जाते हैं। अन्त में हृदय शिथिलन (pause Diastole) की दशा में 0.4 सेकण्ड तक रहता है।

होता है पूर्व से पश्चिम 'उदयास्त' क्रिया आलिन्दों के संकुचन को तथा दक्षिण से उत्तर तरफ उदयास्त निलय के संकुचन को इंगित करता है। इस क्रिया में लगे समय 1 : 2 का सम्बन्ध है इन दोनों कालों के योग के बराबर स्वराज्य काल है। यह काल सम्भवतः पूर्ण हृदय के शिथिलन काल (pause diastole) को इंगित करता है जो लगभग संकुचन शिथिलन में लगे काल के योग के बराबर होता है। यद्यपि यह गणना पूर्ण शुद्ध नहीं हैं तथापि यह हृदय गति अध्ययन सम्बन्धी प्राचीनतम प्रयास को इंगित करता है। इसके साथ हृदय गति के अन्य आयामो का भी उद्धरण (छान्दो० उप०, 3.8,9,10) मिलता है। सम्भवतः ये हृदय के विषम गति को इंगित करते हैं।

वैदिक ऋषि श्वास को फेफड़े में भरने की क्रिया को उच्छश्वसन[41] (Inspiration) तथा इसे बाहर आकाश में निकलने की क्रिया को उर्ध्वश्वसन[42] (Expiration) कहते थे। हंसोपनिषद् में एक व्यक्ति के दिन-रात्रि की श्वास संख्या इक्कीस हजार छः सौ बताई गयी है। साधारणतया एक स्वस्थ व्यक्ति एक मिनट में पन्द्रह बार श्वास लेता है। अतः चौबीस घन्टों की श्वास संख्या ($24 \times 60 \times 15 = 21600$) इक्कीस हजार छः सौ, यहाँ सटीक एवं शुद्ध उद्धृत है।

वैदिक साहित्य में हृद-फुफ्फुसीय अङ्ग कार्यकी को उड़ते हुए हंस के गति का दृष्टान्त प्रस्तुत कर समझाया गया है[43]। यहाँ उल्लेखनीय है कि हृदय के दोनों तरफ के फेफड़े वक्षीय ढांचे के घटने बढ़ने के साथ संकुचित और शिथिल होते रहते हैं। हृद पेशियों में भी संकुचन और शिथिलन होता है यह पूरी क्रिया (साम) तालबद्ध होती है जो किसी लम्बी ग्रीवा वाले पक्षी के पंख फड़फड़ा कर उड़नेवाली गति के समान है।

41–छान्दो० उप०, 3.13.2; प्र० उप०, 4.4.

42–बृ० उप०, 4.3.35, 38 निःश्वसन, प्र० उप०, 4.4.

43– „ 5.5.3-4; 2.5.18; 4.3.19; अ० वे०, 10.9,6; दे० 'हृदय की सामान्य रचना', पृ० 2 इसी पुस्तक में।

हृदयोपनिषद्

प्रथमो भागः

संकलित एवं प्रकाशित

द्वारा

सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव

हृदयोपनिषद् संस्थान

चन्द्र भवन, दीवान बाजार, नयी कालोनी, गोरखपुर-२७३००१

(उ० प्र०) भारत

अध्याय ९

हस्ते दधानो नृम्णा विश्वान्यमे देवान्धाद्गुहा निषीदन् ।
विदन्तीमत्र नरो धियन्धा हृदा यत्तष्टान्मन्त्रां अशंसन ॥ १ ॥

आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोर्हृदयादधि ।
यद्मं मतस्नाभ्यां यक्नः प्लाशिभ्यो वि वृहामि ते ॥ २ ॥

एतानि भद्रा कलश क्रियाम कुरुश्रवण ददतो मघानि ।
दान इद्वो मघवानः सो अस्त्वव च सोमो हृदि यं बिभर्मि ॥ ३ ॥

वृषामतीनां पवते विचक्षणः सोमो अह्न प्रतरीतोषसो दिवः ।
क्राणा सिन्धूनां कलशां अवीवशदिन्द्रस्यहार्द्याविशन्मनीषिभिः ॥४॥

को अस्मिन्नापो व्यदधाद विषूवृतः पुरूवृतः सिन्धुसृत्याय जाताः ।
तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्र धूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः ॥५॥

अष्टाचक्रा नव द्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥ ६ ॥

सहस्रबाहुः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रापातः ।
स भूमिं विश्वता वृत्वात्यतिष्ठद् दशांगुलम् ॥ ७ ॥

पुण्डरीक नवद्वारं 'त्रिभिगुर्णैभिरावृतम् ।
तस्मिन यद् यक्षमात्मन्वत तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ ८ ॥

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदय च यत् ।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः ॥ ९ ॥

वृषा ह्यसि भानुना द्युमन्तं त्वा हवामहे ।
पवमान स्वर्दृशम् ॥
यदद्भिः परिषिच्यसे मर्मृज्यमान आयुभिः ।
द्रोणे सधस्थमश्नुषे ॥
आ पवस्व सुवीर्वं मन्दमानः स्वायुध ।
इहो ष्विन्दवा गहि ॥ १० ॥

अध्याय २

तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपम् । यथा माहारजनं वासो यथा पाण्ड्वाविकं यथेन्द्रगोपो यथाग्न्यर्चिर्यथा पुण्डरीकं यथा सकृद्विद्युत्तँ सकृद्विद्युत्तेव ह वा अस्य श्रीर्भवति य एवं वेदाथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्त्यथ नामधेयँ सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥ १ ॥

अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते तस्यैष घोषो भवति यमेतत् कर्णावपिधाय शृणोति स यदोत्क्रमिष्यन् भवति नैनं घोषँ शृणोति ॥ २ ॥

तस्यैषा दृष्टिर्यत्रैतदस्मिञ्छरीरे सँस्पर्शेनोष्णिमानं विजानाति तस्यैषा श्रुतिर्यत्रैतत्कर्णावपिगृह्य निनदमिव नदथुरिवाग्नेरिव ज्वलत उपशृणोति तदेतद्दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत चक्षुष्यः श्रुतो भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥ ३ ॥

तद् यथानः सुसमाहितमुत्सर्जद् यायादेवमेवायं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ उत्सर्जन् याति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति ॥ ४ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।
हृदा मन्वीशो मनसाभिक्लृप्तो
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ५ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण
त विद्याच्छुक्रममृत तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥ ६ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते एतद्वै तत् ॥ ७ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उश्वः ॥ ८ ॥

अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः
सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितो यः ।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव
आराग्रमात्रोह्यपरोऽपि दृष्टः ॥ ९ ॥

य सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि । दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः ॥ मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय । तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥ १० ॥

हृदि ह्येष आत्मा । अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखा नाडी सहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति ॥ ११ ॥

स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेवनिरुक्तँ हृद्यमिति तस्माद्धृदयम हरहर्वा-एवंवित्स्वर्गं लोकमेति ॥ १२ ॥

एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वैष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तारिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः॥१३॥

एष प्रजापतिर्यद् हृदयमेतद् ब्रह्मैतत् सर्वं तदेतत् त्र्यक्षरँ हृदयमिति हृइत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद द इत्येकमक्षरं-ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद यमित्येकमक्षरमेति स्वर्गं लोकं य एवं वेद ॥ १४ ॥

तद् वै तदेतदेव तदास सत्यमेव स यो हैतं महद् यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति जयतीमाँल्लोकाञ्जित इन्न्वसावसद्य एवमेतन्महद् यक्षं-प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति सत्यँ ह्येव ब्रह्म ॥ १५ ॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे विदग्धः शाकल्यो हृदयं वै ब्रह्मेति यथा मातृमान पितृमानाचार्यवान् ब्रूयात्तथो तच्छाकल्योऽब्रवीद्धृदयं वै ब्रह्मेत्यहृदयस्य हि किँ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद् वा एतत् सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य हृदयमेवायतनकाशः प्रतिष्ठा स्थितिरित्येनदुपासीत का स्थितता याज्ञवल्क्य हृदयमेव सम्राडिति होवाच हृदयं वै सम्राट् सर्वेषां भूतानामायतनँ हृदय वै सम्राट् सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा हृदये ह्येव सम्राट् सर्वाणि भूतानि प्रतिष्ठितानि भवन्ति हृदयं वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनँ हृदयं जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभँ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्य नाननुशिष्य हरेतेति ॥ १६ ॥

हृदि ह्येष आत्मा । अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडी सहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति ॥ १७ ॥

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥ १८ ॥

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः ।
स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः ।
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं
स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् ॥ १९ ॥

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ २० ॥

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥ २१ ॥

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ २२ ॥

ऊर्ध्वमूलोऽवाकशाखएषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ।
एतद्वै तत् ॥ २३ ॥

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ॥ २४ ॥

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका ।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥ २५ ॥

हरिः ॐ अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥ २६ ॥

तं चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति स ब्रूयात् ॥ २७ ॥

इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषस्तं वा एतमिन्धँ सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेणैव परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः ॥ २८ ॥

अथैतत् वामेऽक्षणि पुरुषरूपमेषास्य पत्नी विराट् तयोरेष सँस्तावो य एषोऽन्तर्हृदय आकाशोऽथैनयोरेतदन्नं य एषोऽन्तर्हृदये लोहित पिण्डोऽथैतयोरेतत् प्रावरणं यदेतदन्तर्हृदये जालकमिवाथैनयोरेषा सृतिः सञ्चरणी यैषा हृदयादूर्ध्वा नाड्युच्चरति यथा केशः सहस्रधा भिन्न एवमस्यैता हिता नाम नाड्योऽन्तर्हृदये प्रतिष्ठिता भवन्त्येताभिर्वा एतदास्रवदास्रवति तस्मादेष प्रविविक्ताहारतर इवैव भवत्यस्माच्छारीरादात्मनः ॥ २९ ॥

तस्य प्राची दिक् प्राञ्चः प्राणा दक्षिणा दिग् दक्षिणे प्राणाः

प्रतीची दिक् प्रत्यञ्चः प्राणा उदीची दिगुदञ्चः प्राणा ऊर्ध्वादिगूर्ध्वाः प्राणा अवाची दिगवाञ्चः प्राणाः सर्वा दिशः सर्वे प्राणाः स एष नेति नेत्यात्मागृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्यभयं वै जनक प्राप्तोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः। स होवाच जनको वैदेहोऽभयं त्वा गच्छतादू याज्ञवल्क्यम् यो नो भगवन्नभयं वेदयसे नमस्तेऽस्त्विमे विदेहा अयमहमस्मि ॥ ३० ॥

यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्या-चन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितमिति ॥ ३१ ॥

तं चेद्ब्रूयुरस्मिँश्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वं समाहितँ सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा यदैतज्जरा वाप्नोति प्रध्वँसते वा किं ततोऽतिशिष्यत इति ॥ ३२ ॥

स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यत एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन्कामाः समाहिता एष आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पो यथा ह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति यथानुशासनं यं यमन्तमभिकामा भवन्ति यं जनपदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति ॥ ३३ ॥

तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते तद्य इहात्मानमननुविद्य व्रजन्त्येताँश्च सत्यान्कामाँस्तेषाँ

सर्वेषु लोकेष्वकाम चारो भवत्यथय इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येताँ श्च सत्यान् कामाँ स्तेषाँ सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ ३४ ॥

कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः स समानः सन्नुभौ लोकावनुसञ्चरति ध्यायतीव लेलायतीव स हि स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणि ॥ ३५ ॥

एष प्रजापतिर्यद् हृदयमेतद् ब्रह्मैतत् सर्वं तदेतत् त्र्यक्षरँ हृदयमिति हृ इत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद द इत्येकमक्षरं ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद यमित्येकमक्षरमेति स्वर्गं लोकं य एवं वेद ॥ ३६ ॥

तद् वै तदेतदेव तदास सत्यमेव स यो हैतं महद् यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति जयतीमाँल्लोकाञ्जित इन्नवसावसद्य एवमेतन्महद् यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति सत्यँ ह्येव ब्रह्म ॥ ३७ ॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामे यब्रवीन्मे विदग्धः शाकल्यो हृदयं वै ब्रह्मेति यथा मातृमान् पितृमानाचार्यवान ब्रूयात्तथा तच्छाकल्योऽब्रवीद्धृदयं वै ब्रह्मेत्यहृदयस्य हि किँ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद् वा एतत् सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य हृदयमेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा स्थिति-रित्येनदुपासीत स्थितता याज्ञवल्क्य हृदयमेव सम्राडिति होवाच हृदयं वै सम्राट् सर्वेषां भूतानामायतनँ हृदयं वै सम्राट् सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा हृदये ह्येव सम्राट् सर्वाणि भूतानि प्रतिष्ठितानि भवन्ति हृदयं वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनँ हृदयं जहाति सर्वाण्येनं

भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभँ सहस्त्रं ददामीति होवाच, जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ ३८ ॥

काम एव यस्यायतनँ हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात् सर्वस्यात्मनः परायणँ स वै वेदिता स्यात्। याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषँ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायं काममयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति स्त्रिय इति होवाच ॥ ३९ ॥

अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिङ्गलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येत्यसौ वा आदित्यः पिङ्गल एष शुक्ल एष नील एष पीत एष लोहितः ॥ ४० ॥

तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमं चामुं चैवमेवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमं चामुं चामुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडिभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः ॥ ४१ ॥

तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति, तं न कश्चन पाप्मा स्पृशति तेजसा हि तदा सम्पन्नो भवति ॥ ४२ ॥

अथ यत्रैतदबलिमानं नीतो भवति तमभित आसीना आहुर्जानासि मां जानासि मामिति स यावदस्माच्छरीरादनुत्क्रान्तो भवति तावज्जानाति ॥ ४३ ॥

अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते स ओमिति वा होद्वा मीयते स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छत्येतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम् ॥४४॥

तदेष श्लोकः । शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति ॥ ४५ ॥

अथ येऽस्योर्ध्वारश्मयस्ता एवास्योर्ध्वा मधुनाड्यो गुह्या एवादेशा मधुकृतो ब्रह्मैव पुष्पं ता अमृता आपः ॥ ४६ ॥

अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वातिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते ॥४७॥

स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः, सर्वे लोकाः, सर्वे देवाः, सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥ ४८ ॥

ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्यो यथा केशः सहस्रधा भिन्नस्तावताणिम्ना तिष्ठन्ति, शुक्लस्य नीलस्य पिङ्गलस्य हरितस्य लोहितस्य पूर्णा अथ यत्रैनं घ्नन्तीव जिनन्तीव हस्तीव विच्छाययति गर्तमिव पतति, यदेव जाग्रद्भयं पश्यति तदत्राविद्यया मन्यतेऽथयत्र देव इव राजेवाहमेवेदँ सर्वोऽस्मीति मन्यते सोऽस्य परमो लोकः ॥ ४९ ॥

तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलँ हरितं लोहितं च। एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित् पुण्यकृत्तैजसश्च ॥ ५० ॥

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः। अमृतो हिरण्मयः। अन्तरेण तालुके। य एष स्तन इवावलम्बते। सेन्द्रयोनिः। यात्रासौ केशान्तो विवर्तते। व्यपोह्य शीर्षकपाले भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति भुव इति वायौ ॥ ५१ ॥

सुवरित्यादित्ये। मह इति ब्रह्मणि। आप्नोति स्वाराज्यम्। आप्नोति मनसस्पतिम्। वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः। श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः। एतत्ततो भवति। आकाशशरीरं ब्रह्म। सत्यात्म प्राणारामं मन आनन्दम्। शान्तिसमृद्धममृतम्। इति प्राचीनयोग्योपास्स्व ॥ ५२ ॥

स ईक्षत कथं न्विदं मदृते स्यादिति स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति। स ईक्षत यदि वाचाभिव्याहृतं यदि प्राणेनाभिप्राणितं यदि चक्षुषा दृष्टं यदि श्रोत्रेण श्रुतं यदि त्वचा स्पृष्टं यदि मनसा ध्यातं यद्यपानेनाभ्यपानितं यदि शिश्नेन विसृष्टमथ कोऽहमिति ॥ ५३ ॥

स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत।
सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनम्। तस्य त्रय आवसथा स्त्रयः स्वप्नाः, अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति ॥ ५४ ॥

स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत् किमिहान्यं वावदिषदिति। स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यत्। इदमदर्शमिती३॥ ५५ ॥

तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम। तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवाः परोक्षप्रिया इव हि देवाः ॥ ५६ ॥

तं होवाचाजातशत्रुर्यमेवैष एतद्बालाकेपुरुषोऽशयिष्ट यत्रैतदभूद्यत एतदगात्। हिता मास हृदयस्य नाड्यो हृदयात् पुरीतत-मभिप्रतन्वन्ति यथा सहस्रधा केशो विपटितस्तावदण्व्यः पिंगलस्या-णिम्नातिष्ठन्ते शुक्लस्य कृष्णस्य पीतस्य लोहितस्येति। तासु तदा भवति यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यति। अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति। तथैनं वाक् सर्वैर्नामभिः सहाप्येति चक्षुः सर्वैं रूपैः सहाप्येति श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति मनः सर्वैर्ध्यातैः सहाप्येति स यदा प्रतिबुध्यतेयथाऽग्नेर्विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेव मेवैतस्मा-दात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः। तद्यथा क्षुरः क्षुरधावे ह्येतस्यास्य विश्वभरो वा विश्वम्भर कुलाय एवमेवैष प्राज्ञ आत्मेदं शरीरमनुप्रविष्ट आलोमभ्य आ नखेभ्यः॥ ५७॥

तमेतामात्मानमेतमात्मनोऽन्ववपश्यन्ति। यथा च श्रेष्ठिनं स्वास्तद्यथा श्रेष्ठैस्तभुङ्क्ते तद्यथा वा श्रेष्ठिन स्वा भुञ्जन्तन्ति एवं श्रेष्ठिन स्वास्त एवावर्धयाः। इन्द्र एतमात्मान न विजज्ञौ तावदेनमसुरा अभिवभूवः। स यदा विजिज्ञावथ हत्वाऽसुरान् विजित्य सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्य पर्येति तथो एवैवं विद्वान् सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्थमाधिपत्यं पर्येति य एवं वेद य एव वेद॥५८॥

तद्धैतद्ब्रह्माप्र जापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यस्त-द्धैतदुद्दालकायारुणये ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रोवाच॥५९॥

इदं वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात प्रणाय्याय वान्तेवासिने॥ ६०॥

नान्यस्मै कस्मैचन यद्यप्यस्मा इमामद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दद्यादेतदेव ततो भूय इत्येतदेव ततो भूय इति ॥ ६१ ॥

अथ वँ्शः । पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवः पौतिमाष्यात्पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः कौशिकात्कौशिकः कौण्डिन्यात्कौण्डिन्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कौशिकाच्च गौतमाच्च गौतमः ॥ ६२ ॥

अग्निवेश्यादाग्निवेश्यः शाण्डिल्याच्चानभिम्लाताच्चानभिम्लात आनभिम्लातादानभिम्लात आनभिम्लातादानभिम्लातो गौतमाद्गौतमः सैतवप्राचीनयोग्याभ्याँ सैतवप्राचीनयोग्यौ पाराशर्यात्पाराशर्यो भारद्वाजाद्भारद्वाजो भारद्वाजच्च गौतमाच्च गौतमोभारद्वाजाद्भारद्वाजः पाराशर्यात्पाराशर्यो बैजवापायनाद्बैजवापायनः कौशिकायनेः कौशिकायनिः ॥ ६३ ॥

घृतकौशिकाद्घृतकौशिकः पाराशर्यायणात्पाराशर्यायणः पाराशर्यात्पाराशर्यो जातूकर्ण्याज्जातूकर्ण्य आसुरायणाच्च यास्काच्चासुरायणस्त्रैवणेस्त्रैवणि रौपजन्धनेरौपजन्धनिरासुरेरासुरिर्भारद्वाजाद्भारद्वाज आत्रेयादात्रेयो माण्टेर्माण्टिर्गौतमाद्गौतमो गौतमाद्गौतमो वात्स्याद्वात्स्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कैशोर्यात्काप्यात्कैशोर्यः काप्यः कुमारहारितात्कुमारहारितो गालवाद्गालवो विदर्भीकौण्डिन्याद्विदर्भीकौण्डिन्यो वत्सनपातो बाभ्रवाद्वत्सनपाद्बाभ्रवः पथः सौभारात्पन्थाः सौभरोऽयास्यादाङ्गिरसादयास्य आङ्गिरस आभूतेस्त्वाष्ट्रादभूतिस्त्वाष्ट्रो विश्वरूपात्त्वाष्ट्राद्वि श्वरूपस्त्वाष्ट्रोऽश्वि-

भ्यामश्विनौ दधीच आथर्वणादभ्यङ्ङाथर्वणोऽथर्वणो दैवादथर्वा दैवो मृत्योःप्राध्वँ सनान्मृत्युः प्राध्वँ सनः प्रध्वँ सनात्प्रध्वँ सन एकर्षे रेकर्षिर्विप्रचित्ते र्विप्रचीत्तिर्व्यष्टेर्व्यष्टिः सनारोः सनारुः सनातनात्सनातनः सनगात्सनगः परमेष्ठिनः परमेष्ठी ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयम्भु ब्रह्मणे नमः ॥ ६४ ॥

ॐ पूर्णमिदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

गौतम उवाच—

भगवन् सर्वधर्मज्ञ सर्वशास्त्रविशारद ।
ब्रह्मविद्याप्रबोधो हि येनोपायेन जायते ॥ ६५ ॥

सनत्कुमार उवाच :—

विचार्य सर्वधर्मेषु मतं ज्ञात्वा पिनाकिनः ।
पार्वत्या कथितं तत्वं शृणु गौतम तन्मम ॥ ६६ ॥
अनाख्येयमिदं गुह्यं योगिने कोशसंनिभम् ।
हंसस्याकृतिविस्तारं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ॥ ६७ ॥
अथ हंसपरमहंसनिर्णयं व्याख्यास्यामो ब्रह्मचारिणे ।
दान्ताय गुरुभक्ताय हंसहंसेति यदा ध्यानम् ॥ ६८ ॥

सर्वेषु देहेषु व्याप्त वर्तते यथा अग्नि काष्ठेषु तिलेषु तलमिव । तं विदित्वा न मृत्युमेति ॥ ६९ ॥

गुदमवष्टभ्याधाराद्वायुमुथाप्य स्वाधिष्ठानं त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य-मणिपूरकं गत्वा अनाहतमतिक्रम्य शिश्नाभे पार्श्वे भवतः । विशुद्धौ प्राणान्निरुध्याज्ञामनुयायन् ब्रह्मरन्ध्रं ध्यायन् त्रिमात्रोऽहमित्येवं सर्वदा पश्यत्नाकारश्च भवति ॥ ७० ॥

एषोऽसौ परमहंसो भानुको टप्रतीकाशो येनेदं सर्वं व्याप्तम् ॥७१॥

तस्याष्टधा वृत्तिर्भवन्ति। पूर्वदले पुण्ये मति आग्नेये निद्रालयस्यादयो भवन्ति। याम्ये क्रौर्ये मतिः। नैर्ऋते पापे मनीषां। वारुण्यां क्रीडा। वायव्यां गमनादौ बुद्धिः सौम्ये रतिप्रीतिः। ईशान्ये द्रव्यादानम्। मध्ये वैराग्यम् केसरे जाग्रदवस्था। कर्णिकायां स्वप्नं। लिङ्गे सुषुप्तिः। पद्मत्यागे तुरीयम्। यदा हंसे नादो विलीनो भवति तत् तुरीयातीतम् ॥७२॥

अथो नाद आधाराद्ब्रह्मरन्ध्रे पर्यन्त शुद्धस्फटिकसंकाशः स वै ब्रह्म परमात्मेत्युच्यते ॥ ७३ ॥

अथ हंस ऋषिः। अव्यक्तगायत्री छन्दः। परमहंसो देवता। ह बीजम्। सः शक्तिः सोऽहं कीलकम ॥ ७४ ॥

षट्संख्यया अहोरात्रयोरेकविंशतिसहस्राणि षट्छतान्यधिकानि भवन्ति। सूर्याय सामाय निरञ्जनाय निराभासायातनुसूक्ष्म प्रचोदयादिति ॥ ७५ ॥

अग्निषोमाभ्यां वौषट् हृदयाद्यङ्गन्यासकरन्यासभवतः ॥ ७६॥

एवं कृत्वा हृदये हंसमात्मानं ध्यायेत् ॥ ७७ ॥

अग्नीषोमौ पक्षावोंकारः शिर उकारो बिन्दुस्त्रिनेत्रं मुखं रुद्रो रुद्राणि चरणौ द्विविध कण्ठतः कुर्यादित्युन्मनाः अजपोपसंहार इत्यभिधीयते ॥ ८७ ॥

एवं हंसवशान्मनो विचार्यते ॥ ७९ ॥

अस्यैव जपकोटया नादमनुभवतिः स च दशविधो जायते। चिणिति प्रथमः। चिणिचिणीति द्वितीयः। घन्टानादस्तृतीयः। शङ्ख-

नादश्चतुर्थः पञ्चमस्तन्त्रीनादः । षष्ठस्तालनादः । सप्तमो वेणुनादः । अष्टमो भेरीनादः । नवमो मृदङ्गनादः । दशमो मेघनादः ॥८०॥

नवमं परित्यज्य दशममेवाभ्यसेत् ॥८१॥

प्रथमे चिञ्चिणीगात्रं द्वितीये गात्राभञ्जनम् ।
तृतीये भेदनं याति चतुर्थे कम्पते शिरः ॥८२॥
पञ्चमे स्रवते तालू षष्ठेऽमृतनिषेवणम् ।
सप्तमे गूढविज्ञानं परा वाचा तथाऽष्टमे ॥८३॥
अदृश्यं नवमे देहं दिव्यं चक्षुस्तथाऽमलम् ।
दशमं च परं ब्रह्म भवेद्ब्रह्मात्मसन्निधौ ॥८४॥

तस्मान्मनो विलीने मनसि गते संकल्पविकल्पे दग्धे पुण्यपापे सदाशिवः शक्त्यात्मा सर्वत्रावस्थितः स्वयंज्योतिः शुद्धो बुद्धो नित्यो निरञ्जनः शान्ततमः प्रकाशयतीति वेदानुवचनम भवतीत्युनिषत् ।८५।

अकारो दक्षिणः पक्ष उकारस्तूत्तरः स्मृतः ।
मकारः पुच्छमित्याहुरर्धमात्रा तु मस्तकम् ॥ ८६ ॥
पादादिकं गुणास्तस्य शरीरं तत्वमुच्यते ।
धर्मोऽस्यदक्षिणश्चक्षुरधर्मोऽथोपरः स्मृतः ॥ ८७ ॥
भूर्लोकः पादयोस्तस्य भुवर्लोकस्तु जानुनि ।
सुवर्लोकः कटीदेशे नाभिदेशे महार्जगत् ॥ ८८ ॥
जनोलोकस्तु हृद्देशे कण्ठे लोकस्तपस्ततः ।
भ्रुवोर्ललाटमध्ये तु सत्यलोकोध्यवस्थितः ॥ ८९ ॥
सहस्रार्णमती वाऽत्र मन्त्र एष प्रदर्शितः ।
एवमेतां समारूढो हंसयोगविचक्षणः ॥ ९० ॥

अथाधिदैवतं य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीतोद्यन्वा एष प्रजाभ्य उद्गायति । उद्यँ स्तमोभयमपहन्त्यपहन्वा ह्वै भयस्य तमसो भवति य एवं वेद ॥ ९१ ॥

समान उ एवायं चासौ चोष्णोऽयमुष्णोऽसौ स्वर इतीममाचक्षते स्वर इति प्रत्यास्वर इत्यमुं तस्माद्वा एतमिमममुं चोद्गीथमुपासीत ॥ ९२ ॥

अथ खलु व्यानमेवोद्गीथमुपासीत यद्वै प्राणिति स प्राणो यदपानिति सोऽपानः । अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानो यो व्यानः स वाक् । तस्मादप्राणन्ननपानन्वा चमभिव्याहरति ॥ ९३ ॥

या वाक्सर्क्स्मादप्राणन्ननपानन्नृचमभिव्याहरति यर्क्तत्साम तस्मादप्राणन्ननपानन्साम गायति यत्साम स उद्गीथस्तस्मादप्राणन्ननपान्नुद्गायति ॥ ९४ ॥

अतो यान्यन्यानि वीर्यवन्ति कर्माणि यथाग्नेर्मन्थनमाजेः सरणं दृढस्य धनुष आयमनमप्राणन्ननपानँ स्तानि करोत्येतस्य हेतोर्व्यानमेवोद्गीथमुपासीत ॥ ९५ ॥

अथ खलूद्गीथाक्षराण्युपासीतोद्गीथ इति प्राण एवोत्प्राणेन ह्युत्तिष्ठति वाग्गीर्वाचो ह गिर इत्याचक्षतेऽन्नं थमन्ने हीदँ सर्वँ स्थितम् ।। ९६ ।।

तान्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्य ॐकारः संप्रास्त्रवत्तद्यथा शंकुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णान्येवमोङ्कारेण सर्वा वाक्संतृण्णोङ्कार एवदँ सर्वमोङ्कार एवेदं सर्वम् ॥ ९७ ॥

य इ्वै तत्पुरुषे शरीरमिदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे हृदयमस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ॥ ९८ ॥

यद्वै तद्ब्रह्मेतीदं वाव तद्योऽयं बहिर्धा पुरुषादाकाशो यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाशः ॥ ९९ ॥

अयं वाव स योऽयमन्त पुरुष आकाशो यो वै सोऽन्तः पुरुष आकाशः ॥ १०० ॥

अयं वाव स योऽयमन्तर्हृदय आकाशस्तदेतत्पूर्णमप्रवति पूर्णाम प्रवर्तिनो श्रियं लभते य एवं वेद ॥ १०१ ॥

ॐ खं ब्रह्म । खं पुराणं वायुरं खमिति ह स्माह कौरव्यायणी पुत्रो वेदोऽयं ब्राह्मणा विदुर्वेदैनेन यद् वेदितव्यम् ॥ १०२ ॥

अथामूर्तं वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतमेतद्यदेतत्त्यत्तस्यैतस्यामूर्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्त्यस्य ह्येष रस इत्यधिदैवतम् ॥ १०३ ॥

तद् यत्तत् सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषस्तावेतावन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ रश्मिभिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठितः प्राणैरयममुष्मिन् स यदोत्क्रमिष्यन भवति शुद्धमेवैतन्मण्डलं पश्यति नैनमेते रश्मयः प्रत्यायन्ति ॥१०४॥

हृदयं ह्यष्ट ॥ १०५ ॥

* यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते तथा रथचक्रस्य खं तेन स उर्ध्वं आक्रमते स आदित्यमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा लम्बरस्य खं तेन स ऊर्ध्वं आक्रमते स चन्द्रमसमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा दुन्दुभेः खं तेन स ऊर्ध्वं आक्रमते स लोकमागच्छत्यशोकमहिमं तस्मिन वसति शाश्वतीः समाः ।

* मन्त्र १६ तथा मन्त्र ३८ की पुनरावृत्ति हुई है। इस मन्त्र को कृपया ३८वें मन्त्र के स्थान पर पढ़िये।

मन्त्र-सूची

अध्याय १

अध्याय २

२७.	छान्दो० उप०	८.१.२	५४.	ऐत० उप०	१.३.१२
२८.	बृ० उप०	४.२.२	५५.	,,	१.३.१३
२९.	,,	४.२.३	५६.	,,	१.३.१४
३०.	,,	४.२.४	५७.	कौषी० ब्रा० उप०	४.१९
३१.	छान्दो० उप०	८.१.३	५८.	,, ,,	४.२०
३२.	,,	८.१.४	५९.	छान्दो० उप०	३.११.४
३३.	,,	८.१.५	६०.	,,	३.११.५
३४.	,,	८.१.९	६१.	,,	३.११.६
३५.	बृ० उप०	४.३.७	६२.	बृ० उप०	२.६.१
३६.	,,	५.३.१	६३.	,,	२.६.२
३७.	,,	५.४.१	६४.	,,	२.६.३
३८.	बृ० उप०	५.१०.१	६५.	हं० उप०	१
३९.	,,	३.९.११	६६.	,,	२
४०.	छान्दो० उप०	८.६.१	६७.	,,	३
४१.	,,	८.६.२	६८.	,,	४
४२.	,,	८.६.३	६९.	,,	५
४३.	,,	८.६.४	७०.	,,	६
४४.	,,	८.६.५	७१.	,,	७
४५.	,,	८.६.६	७२.	,,	८
४६.	,,	३.५.१	७३.	,,	९
४७.	बृह० उप०	२ १.१९	७४.	,,	१०
४८.	बृ० उप०	२.१.३०	७५.	,,	११
४९.	,,	४.३.२०	७६.	,,	१२
५०.	,,	४.४.९	७७.	,,	१३
५१.	तैत्ति० उप०	१.६.१	७८.	,,	१४
५२.	,,	१.६.२	७९.	,,	१५
५३.	ऐत० उप०	१.३.११	८०.	,,	१६

८१.	हं० उप०	१७	९४.	,,	१.३.४
८२.	,,	१८	९५.	,,	१.३.५
८३.	,,	१९	९६.	,,	१.३.६
८४.	,,	२०	९७.	,,	२.२३.३
८५.	,,	२१	९८.	,,	३.१२.४
८६.	ना० उप०	१	९९.	,,	३.१२.७
८७.	,,	२	१००.	,,	३.१२.८
८८.	,,	३	१०१.	,,	३.१२.९
८९.	,,	४	१०२.	बृ० उप०	५.१.१
९०.	,,	५	१०३.	,,	२.३.२
९१.	छान्दो० उप०	१.३.१	१०४.	,,	५.५.२
९२.	,,	१.३.२	१०५.	निरुक्त	१४.७
९३.	छान्दो० उप०	१.३.३			
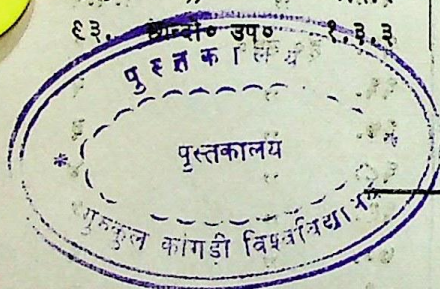
वैदिक साहित्य में शतायु जीवन की सर्वत्र अभ्यर्थना की गयी है। एक सो बीस वष की आयु को उत्कृष्ट माना गया है। ऐसे ऋषियों के भी उल्लेख हैं जो शताब्दियों जीवित रहे। स्वस्थ हृद–फुफ्फुसीय अङ्ग, दीर्घ जीवन और सबल शरीर का भौतिक आधार हैं। वैदिक भिषक् इस तथ्य से भिज्ञ थे। अतः इस अङ्ग के स्वास्थ्य के प्रति वे सदा जागरूक रहे। मृत्यु के कारणों की खोज के लिये उन्होंनें हृद-फुफ्फुसीय अङ्गों की रचना और कार्यिकी का विशद् अध्ययन किया। इस ज्ञान को उन्होंने गुप्त भाषा में संहिताओं तथा उपनिषदो में उद्धरित किया है। ये आख्यान अभी तक बोधगम्य नहीं थे। प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने इन रहस्यों का उद्घाटन किया है। तथ्यों की पुष्टि के लिये लेखक ने आधुनिक भेषज-विज्ञान की उपलब्धियों को भी यथा-स्थान निर्दिष्ट किया है। सामान्य पाठकों के साथ ही प्राचीन भेषज-विज्ञान तथा भारोपीय-इतिहास में रुचि रखने वाले छात्रों के लिये भी यह पुस्तक विशेष उपयोगी है। साधारण ग्रन्थ जिनमें संहिताओं के गुप्त संन्देशों की व्याख्या है, कहते हैं। इस पुस्तक में भी ऐसे ही रहस्योद्घाटन इसका नामकरण हृदयोपनिषद् सार्थक है।

जगदीश सहाय श्रीवा

रीडर, दर्शन-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद